HAL open science

हिंदी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष

Pramod Ranjan, Kishan Kaljayee, Gajanan Madhav, Sudhish Pachauri, Kamlesh Verma, Rajendraprasad Singh, Gangasahay Meena, Vishesh Roy, Sunita Gupta, Prempal Prempal, et al.

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan, Kishan Kaljayee, Gajanan Madhav, Sudhish Pachauri, Kamlesh Verma, et al.. हिंदी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष. , 2016. ⟨hal-03938954⟩

HAL Id: hal-03938954

https://hal.science/hal-03938954

Submitted on 14 Jan 2023

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution - NonCommercial 4.0 International License

समय से संवाद 12

हिन्दी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष

सम्पादक : प्रमोद रंजन

समय से संवाद : 12

हिन्दी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष

समय से संवाद : 12

हिन्दी साहित्येतिहास
का बहुजन पक्ष

सम्पादक

प्रमोद रंजन

शृंखला सम्पादक

किशन कालजयी

अनन्य प्रकाशन

वीरभारत जी को,
जिन्होंने हिन्दी साहित्य में
चिंतन के नये आयाम दिए...

प्रकाशक : **अनन्य प्रकाशन**
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

© लेखकों की ओर से सम्पादक

प्रथम संस्करण : 2016

आईएसबीएन : 978-93-81997

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032

मुद्रक : कॉम्पैक्ट प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

समय से संवाद

एक सच्चे लोकतन्त्र में न तो किसी तरह की सामाजिक गैरबराबरी की जगह हो सकती है और न ही किसी तरह की आर्थिक असुरक्षा की। इन दोनों कसौटियों पर परखें तो अभी हम एक पिछड़े हुए लोकतन्त्र में जी रहे हैं। भारतीय लोकतन्त्र को नियन्त्रित करने वाली समकालीन राजनीति में जिस तरह के नेतृत्व का बोलबाला बढ़ता जा रहा है, ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि सवा सौ करोड़ की आबादी वाले इस देश में पंचायत से लेकर संसद तक नेतृत्व जिनकी मुट्ठी में है, वे किस वर्ग के हैं और वे सही अर्थों में किनका प्रतिनिधित्व करते हैं? देश के 70 प्रतिशत लोग जो 20 रुपये रोजाना पर गुजर करने के लिए विवश हैं, क्या यह नेतृत्व उनकी भूख, उनकी शिक्षा, उनके स्वास्थ्य और उनके घर के लिए सरोकारी है? इनकी राजनीति में किसानों के संघर्ष और पीड़ा के लिए कितनी जगह है? भारत अभी भी कृषि प्रधान देश है, लेकिन संसद में किसानों के कितने नुमाइन्दे हैं? आखिर कारण क्या है कि सबसे अधिक आत्महत्या किसान ही करते हैं? अब इस देश में जो चुनावी संस्कृति पनपी है उसमें शायद ही कोई किसान विधायक या सांसद बनने का सपना देखता हो। इस देश की अधिकांश आबादी (गरीब) मतदाता बनकर रह सकती है या उपभोक्ता बनकर। इससे ऊपर उसकी कोई हैसियत ही नहीं है।

एक समय था जब राजनीतिक और सामजिक क्षेत्र में नेतृत्व स्वाभाविक तौर पर उभरता था और उसे स्वाभाविक स्वीकृति भी मिल जाती थी। समाज ईमानदारी से अपना नेता चुन लेता था, और नेताओं में भी वे गुण होते थे जो होने चाहिए थे। तब के नेताओं को अपेक्षाकृत निष्ठा, नैतिकता और सामाजिक मूल्यों की परवाह रहती थी और उनके गम्भीर सामाजिक सरोकार होते थे। जन आन्दोलनों की बात यदि छोड़ दें तो संसदीय राजनीति में अब नेता समाजसेवा और जनसंघर्ष जैसे लम्बे, उबाऊ और थका देने वाले रास्ते से नहीं आते, अब वे राजनीतिक और औद्योगिक घराने से आते हैं या फिर नौकरशाही से।

अभी हाल ही में सम्पन्न हुए बिहार विधान सभा चुनाव के अभूतपूर्व नतीजे आये। भारतीय जनता पार्टी के शीर्ष नेतृत्व ने जिस तरह से स्थानीय कार्यकर्ताओं और नेताओं की उपेक्षा करते हुए हवाई चुनावी अभियान चलाया उसे जनता ने खारिज कर दिया और भाजपा के खिलाफ महागठबंधन की भारी जीत हुई। इसके पहले दिल्ली में भी भाजपा का बुरा हाल हो चुका था। दिल्ली और बिहार के चुनावी नतीजे उस राजनीति के लिए सबक हैं जो राजनीति के 'शास्त्र' से बाहर जाकर अपनी मनमानी

करती है। इन नतीजों का आशय यह भी निकल रहा है कि हिन्दुत्व की कट्टरता और बहुसंख्यकों की आक्रामकता के लिए भी मौजूदा राजनीति में ज्यादा जगह नहीं है।

राजनीति की यह मनमानी और अपसंस्कृति मौजूदा लोकतन्त्र का बड़ा संकट है और यही संकट आज के समय का संकट है। इस पुस्तक शृंखला का बुनियादी सरोकार अपने समय से संवाद करना है। समय का तात्पर्य उस सच्चाई से भी है कि बच्चे यदि देश के भविष्य हैं तो बच्चों के लिए शिक्षा और साहित्य का एक उन्नत परिवेश होना चाहिए। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का स्वभाव यदि जनविरोधी हो गया है तो मीडिया की जिम्मेवारी जनपक्षीय होनी चाहिए। दुर्योग यह है कि मीडिया कारपोरेट के चंगुल से निकल नहीं पा रहा है। जाहिर है उसकी प्राथमिकता सत्य की खोज करने और झूठ को ध्ववंस करने में नहीं रही, वह कारपोरेट और सत्ता के बीच दलाली के दलदल में फँसता जा रहा है।

पिछले सात वर्षों में 'सबलोग' के माध्यम से हर महीने किसी एक राजनीतिक या सामाजिक मुद्दे पर पड़ताल होती रही है। 'सबलोग' के पाठकों की वर्षों से यह इच्छा रही है कि 'सबलोग' में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री को पुस्तक रूप में लाया जाए। इसी सन्दर्भ में पिछले पुस्तक मेला (जनवरी 2015) के दौरान 'समय से संवाद' शृंखला का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकाशन परियोजना से पिछले वर्ष हमने दस युवा सम्पादकों (अच्युतानंद मिश्र, आशा, पंकज शर्मा, स्वतंत्र मिश्र, अकबर रिजवी, रामनरेश राम, अनुज लुगुन, संजीव चन्दन, महेश्वर, नीरू अग्रवाल) को जोड़ा, जिन्होंने साहित्य, रंगमंच, सिनेमा, शिक्षा, मीडिया, दलित राजनीति, आदिवासी साक्षरता, स्त्री-विमर्श, बाल साहित्य, हिन्दी उपन्यास पर दस पुस्तकें सम्पादित कीं। यहाँ यह उल्लेख अनावश्यक नहीं होगा कि पिछले पुस्तक मेला में इस शृंखला की दसों पुस्तकें सर्वाधिक चर्चे में रहीं।

'समय से संवाद' शृंखला की अगली कड़ी में इस बार पुस्तक मेले में दस किताबों का एक सेट फिर जारी किया जा रहा है। जाहिर है साहित्य, सिनेमा, संस्कृति, मीडिया, राजनीति, सामाजिक न्याय, और उपनिवेश ही विमर्श के केन्द्र में है। दरअसल इस शृंखला के माध्यम से हम साहित्य, समाज, संस्कृति और राजनीति के बुनियादी मुद्दों की पड़ताल करते हैं।

जितने कम समय में सभी सम्पादकों ने इन पुस्तकों को तैयार करने में जो मेहनत की है उसके लिए धन्यवाद जैसा औपचारिक शब्द काफी छोटा है। हाँ, यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं हो रही है कि ये सभी युवा सम्पादक अपनी-अपनी विधा में सृजनशील प्रतिभा के धनी हैं, किसी प्रकाशन योजना में इनका एकजुट होना हिन्दी के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस 'घटना' को अंजाम देने के लिए प्रकाशक अतुल माहेश्वरी ने जो तत्परता और तैयारी दिखायी है, वह उनकी वैचारिक समझ को रेखांकित करती है और हिन्दी प्रकाशकों की भीड़ से भी उन्हें अलग करती है। मुझे विश्वास है कि 'समय से संवाद' शृंखला की ये पुस्तकें भी पाठकों को पसन्द आयेंगी।

(किशन कालजयी)

अनुक्रम

समय से संवाद	: *किशन कालजयी*	(v)
मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू	: *मुक्तिबोध*	17
रामचन्द्र शुक्ल की धर्म भूमि	: *सुधीश पचौरी*	27
साहित्य इतिहास, कबीर और वर्चस्वविहीन-संस्कृति	: *कमलेश वर्मा*	46
'अन्यों' का गौरवशाली इतिहास	: *राजेन्द्र प्रसाद सिंह*	52
बहुजन दृष्टि से इतिहास-लेखन पर कुछ प्रश्न	: *गंगा सहाय मीणा*	61
इतिहास-लेखन की परम्परा और बहुजन-दृष्टि	: *विशेष राय*	66
हिन्दी स्त्री-कविता : रिक्त स्थानों की पूर्ति	: *सुनीता गुप्ता*	72
हिन्दी साहित्य की उपेक्षित प्रमुख बहुजन कवयित्रियाँ	: *प्रेमपाल*	86
दलित-स्त्री और हिन्दी आलोचना के प्रतिमान	: *रामनरेश राम*	98
बहुजन चेतना के नायक चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु	: *कँवल भारती*	110
बिहार के प्रेमचंद अनूपलाल मंडल	: *अरुण नारायण*	115
हिन्दी साहित्य का एक सबाल्टर्न इतिहास	: *अमलसिंह 'भिक्षुक'*	121
लेखकों का परिचय		127

भूमिका

आखिर हिन्दी साहित्य के इतिहास के बहुजन 'पक्ष' को समझने की जरूरत क्यों है? क्यों न इसे बिना किसी 'पक्ष' के 'संपूर्णता' में देखा जाए? ऐसे सवाल उन आलोचकों की ओर से आते हैं, जो अन्यत्र 'पक्षधरता' को सबसे महत्वपूर्ण घोषित करते हैं। वस्तुतः इस तरह के सवाल हिन्दी साहित्य में जारी विमर्शों के ऐसे विरोधाभासों की बानगी हैं, जिन्हें रेखांकित किया जाना जरूरी है। इन सवालों के उत्स को चिन्हित किये बिना हम अपने साहित्य के इतिहास को देखने-समझने की सम्यक दृष्टि विकसित नहीं कर सकते।

मार्क्सवाद का भारतीय संस्करण

जो आलोचक साहित्येतिहास के बहुजन पक्ष को निरर्थक बताते हैं, उन्हीं की परम्परा के कई आलोचक पूर्व में मार्क्सवाद के संस्कृति व साहित्य सम्बन्धी चिन्तन को द्विज परम्पराओं के अनुरूप ढ़ालने की कोशिश कर रहे थे। वे अपनी मूल वैचारिकी में लगभग वहीं पहुँच गये थे, जहाँ अभिजात्यवादी पहले से मौजूद थे। 'पक्षधरता' के उनके दावे का कोई ठोस अर्थ नहीं रहा है। उनके लिए शायद यह महज एक नारा था, जिसका कुल हासिल यह था कि सामाजिक रूप से वर्चस्वशाली तबकों - द्विज समुदाय - से आने वाले लेखक और कवि कुछ ऐसी चीजें लिखने लगे, जिसमें 'सर्वहारा' का जिक्र हो।

इनमें इसे अधिकांश ने कभी यह ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी कि इन सर्वहाराओं की अपनी कोई सामाजिक पृष्ठभूमि है, अपनी समृद्ध संस्कृति और परम्पराएं हैं और अपना विपुल साहित्य भी है। इसके विपरीत उन्होंने मार्क्सवाद के भारतीयकरण के नाम पर यहाँ की बहुजन-श्रमण संस्कृति और साहित्य की निर्मम उपेक्षा की तथा उसके पदचिह्नों को धूमिल कर दिया।

ब्राह्मणेत्तर साहित्य और हंस

आधुनिक हिन्दी में उनकी इस कृत्रिमता को 1980 के दशक में कड़ी चुनौती मिली।

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

यह चुनौती भारतीय सामाजिक क्रम में निचले पायदान पर डाल दी गयीं अछूत और अन्य पिछड़ी जातियों के लेखकों की ओर से थी, जिसका साहित्यिक-वैचारिक वाहक 'जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक' हंस था। हंस के संपादक राजेंद्र यादव (28 अगस्त, 1929 - 28 अक्टूबर, 2013) स्वयं हिन्दी के अग्रणी कथाकार थे, लेकिन सम्भवतः वे महसूस कर रहे थे कि हिन्दी में जिस प्रकार का बनावटी साहित्य उन दिनों प्रशंसा पा रहा था, उसका कोई गहरा सामाजिक प्रभाव सम्भव नहीं था। उन्होंने दलित और स्त्री साहित्य पर अपनी पत्रिका के माध्यम से विमर्श करना और करवाना शुरू किया तथा आजीवन इन्हें साहित्य की मुख्यधारा बनाने का प्रयास करते रहे। 'हंस' द्वारा शुरू किये गये दलित साहित्य विमर्श का आरम्भ में जो स्वरूप था, उसमें मुख्य रूप से पिछड़े और दलित लेखकों की सांझी भागीदारी थी। स्वयं राजेंद्र यादव के कईआरंभिक संपादकीय लेखों में इसके विस्तृत स्वरूप की झलक मिलती है।

लेकिन बाद के वर्षों में इसका स्वरूप संकुचित होता गया। इसके जो भी भौतिक अथवा मनौवैज्ञानिक कारण रहे हों, किन्तु बाद के वर्षों में दलित साहित्य से स्वयं राजेंद्र यादव का आशय भी सिर्फ उन अछूत जातियों द्वारा लिखे गये साहित्य से होने लगा, जिन्हें भारतीय संविधान में 'अनुसूचित' जाति के अन्तर्गत रखा गया है।

जबकि उससे पूर्व महराष्ट्र में जोतिबा फूले शूद्र-अतिशूद्र व स्त्री के समेकित संघर्ष का उदाहरण रख चुके थे। उनकी ही दिशा में आगे बढ़ते हुए डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने भारत के सभी वंचित तबकों के उत्थान के लिए सम्भवतः इतिहास का सबसे सफल संघर्ष किया।

इसी तरह दक्षिण भारत में सभी ब्राह्मणेत्तर समुदायों को साथ लेकर चलने वाली पेरियार ई.वी रामास्वामी नायकर की विचारधारा की सफलता का दृष्टांत भी मौजूद था। महाराष्ट्र के जिस दलित पैंथर के आन्दोलनों से 'दलित साहित्य' का जन्म हुआ था, वह भी सिर्फ अनुसूचित जाति का आन्दोलन नहीं था, बल्कि उसने अछूतों और गैर अछूत पिछड़ों (फूले के शब्दों में शूद्र व अतिशूद्र) को साथ लेकर ही ब्राह्मणवाद को चुनौती दी थी।

महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में ही नहीं, स्वयं हिन्दी में भी (इसके जन्म काल से ही) जो ब्राह्मणवाद विरोधी सामाजिक अथवा साहित्यिक आन्दोलन रहे हैं, वह पिछड़ों और दलितों के सांझा ही रहे हैं। इस क्रम में गौतम बुद्ध के महान आध्यात्मिक आन्दोलनों को कैसे भूला जा सकता है, जिनका सूत्र वाक्य ही था—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।' ये सभी आंदोलन क्रांतिकारी, जाति के बंधनों से मुक्त और पवित्र मानवीय मूल्यों वाले रहे हैं।

इन तथ्यों की उपेक्षा के कारण चाहे जो भी रहे हों, लेकिन प्रतिगामी मार्क्सवादियों को अंगूठा दिखाने के बाद 'हंस' द्वारा शुरू की गयी उतावली बहसों ने भी साहित्येतिहास के इन सबसे महत्वपूर्ण पहलुओं को उजागर नहीं किया। इसके नतीजों पर हम आगे

बात करेंगे। फिलहाल पिछली सदी में हिन्दी साहित्य के इस 'बहुजन पक्ष' को समझने के लिए प्रसिद्ध दलित लेखक कंवल भारती का एक बड़ा उद्धरण यहाँ दे देना प्रासंगिक होगा।

कंवल भारती एक साक्षात्कार में बताते हैं कि— *''हिन्दी प्रदेश में स्वामी अछूतानंद (1879-1933) का आदि हिन्दू सभा आन्दोलन दलित-पिछड़ी जातियों के नवजागरण का आन्दोलन था, जिसके मूल में 'मूल निवासी भारतीयों' का दर्शन था। अपने ग्रन्थ 'आदिखण्ड काव्य' की अन्तिम पंक्तियों में अछूतानंद जी ने लिखा था—'जो आजाद होन तुम चाहो, तो अब छांट देउ सब छूत, आदिवंश मिल जोर लगाओ, पन्द्रह कोटि 'सछूत-अछूत'। इसमें 'सछूत' शूद्र हैं। इसीलिए इस आन्दोलन में दलित-पिछड़े सभी शामिल थे। यह बहुजन की अवधारणा थी। निषाद जाति के रामचरण एडवोकेट, जिन्हें जार्ज पंचम ने राय साहब की उपाधि दी थी, आदि हिन्दू आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। भिक्खु बोधानन्द, शिवदयाल चौरसिया, महादेवप्रसाद धानुक, रामचरण भुर्जी, गौरीशंकर पाल, बदलूराम रसिक, चौधरी हीरा लाल और चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु इसी आन्दोलन में सक्रिय थे।*

बोधानन्द जी की किताब 'मूल भारतवासी और आर्य' भी इसी बहुजन आन्दोलन का परिणाम थी। किन्तु बाद में, 1927 के अन्त में, बकौल चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु (1879-1933) 'कुछ स्वार्थी लोगों ने आदि हिन्दू सभा को संकुचित कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप 'मूल निवासी भारतीय समाज' की स्थापना हुई।...'आदि हिन्दू आन्दोलन' के संकुचित हो जाने के बाद 'मूल भारतवासी समाज' ने दलित-पिछड़े वर्गों में जागरण और एकता लाने का काम शुरु किया था। आगे चलकर चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु ने इसी वैचारिकी को बहुजन वैचारिकी का नाम दिया। उन्होंने 'बहुजन-कल्याण-माला' के अन्तर्गत बहुजन साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया। इस माला को उन्होंने किस सन् में स्थापित किया था, इसकी जानकारी मुझे नहीं हो सकी, परन्तु इस बात से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उनके बहुजन कल्याण प्रकाशन से प्रकाशित 'आदि वंश का डंका' बहुजन-कल्याण-मालाकी पांचवी पुस्तक थी, 'भारत के आदि निवासियों की सभ्यता' ग्यारहवीं और उनके द्वारा लिखित 'बाबासाहेब का जीवन संघर्ष' इस माला की 17वीं पुस्तक थी, जिसका प्रथम संस्करण 1961 में प्रकाशित हुआ था। 1961 में ही इस माला की 23वीं पुस्तक 'तुलसी के तीन पात' प्रकाशित हुई थी, जिसके लेखक भदन्त आनन्द कौसल्यायन थे।

इस बहुजन माला में 42वीं पुस्तक कालेलकर आयोग की रिपोर्ट की आलोचना पर थी, जिसका नाम 'पिछड़े वर्ग के वैधानिक अधिकारों का सरकार द्वारा हनन' है। इससे आप समझ सकते हैं कि चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु ने दलित-शूद्र साहित्य को बहुजन साहित्य के रूप में वर्गीकृत किया था, यह उस दौर की मांग भी थी। किन्तु अस्सी के दशक में हिन्दी में दलित साहित्य के नामकरण के पीछे की क्या परिस्थितियां

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

थीं, इस पर जरूर शोधकार्य होना चाहिए।'' (देखें, 'खड़ी बोली ने बहुजन साहित्य को हाशिए पर डाला', कंवल भारती से संजीव चंदन की बातचीत, 'फारवर्ड प्रेस', मई, 2015)

पिछड़े-दलितों के सांझा संघर्ष के इस इतिहास के विपरीत 'हंस' के माध्यम से जो 'दलित साहित्य' नामक वैचारिकी विकसित हुई, वह एकांगी और अपूर्ण थी। यद्यपि इस 'दलित साहित्य' की उपलब्धियां भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, लेकिन जितना वह हो सकता था, उसकी अपेक्षा बहुत कम शक्तिशाली साबित हुआ। अपने एकांगीपन के कारण न वह साहित्य की 'मुख्यधारा' बनने का दावा कर सकता है, न ही हिन्दी साहित्य की कथित मुख्यधारा में अपादमस्तक भरे ब्राह्मणवादी मूल्यों और सौंदर्यविधानों से लोहा ले सकता है। एक हाशियाकृत विमर्श भर न बने रहना इसकी नियति है। सिर्फ अनुसूचित जाति साहित्य के रूप में दलित साहित्य को संकुचित कर दिये जाने के कारण ब्राह्मणवाद पर सशक्त साहित्यिक प्रहार करने वाले अन्य अद्विज तबकों के अनेक ओजस्वी लेखकों का इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन तो बाधित हुआ ही, साहित्येतिहास के पन्नों से उन लेखकों की खोज भी रूक गई, जो इस 'दलित साहित्य' की अवधारणा के माकूल नहीं थे। कुल मिलाकर, दूसरे शब्दों में कहें तो इसका परिणाम यह हुआ कि जिस अवधारणा का विकास अभिजन अथवा द्विज साहित्य के बरक्स बहुजन अथवा अद्विज साहित्य के रूप में होना चाहिए था, 'हंस' के रूझान में आए परिवर्तन के कारण उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया।

मैला आंचल क्या है?

इन पंक्तियों के लेखक ने इन्हीं सवालों को लेकर राजेंद्र यादव से एक लंबा साक्षात्कार किया था, जो 'फारवर्ड प्रेस' के अगस्त और सितंबर, 2011 अंक में प्रकाशित हुआ था। राजेंद्र यादव का उस समय मानना था कि 'दलित साहित्य के अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह ब्राह्मणवादी साहित्य है'। मेरा कहना था कि अगर एक ओर ब्राह्मणवादी साहित्य है, दूसरी ओर दलित साहित्य है, और आप दलित साहित्य को सिर्फ अनुसूचित जाति का साहित्य कहते हैं, तो अन्य शूद्रों के साहित्य को क्या कहेंगे? इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं था। उस साक्षात्कार में मैंने राजेंद्र यादव जी से एक सीधा सवाल पूछा कि अगर सारा गैर-दलित साहित्य ब्राह्मणवादी है ''तो फिर मैला आंचल क्या है?'' मेरा इशारा मैला आंचल के पाठ के साथ इस महान उपन्यास के रचनाकार फणीश्वरनाथ रेणु की जाति की ओर भी था, जो अनुसूचित जाति नहीं बल्कि एक पिछड़ी जाति में पैदा हुए थे। राजेंद्र यादव मेरे इस सवाल से बुरी तरह चौंके। उनका उत्तर शब्दशः यह था - ''क्या! सवाल यह नहीं है कि ब्राह्मणवाद सीधा दिखाई दे। लेकिन उसी फ्रेमवर्क में है''। हम सब जानते हैं कि राजेंद्र यादव रेणु के साहित्य को बहुत सम्मान की निगाह से देखते थे तथा उनके द्वारा 'मैला आंचल' जैसे परिवर्तनकामी साहित्य को ब्राह्मणवादी फ्रेम में कह डालना महज उस सवाल से बचने के लिए था। वैसे भी राजेंद्र यादव के वक्तव्यों में ऐसे दर्जनों विरोधाभास मिलते हैं, जिन्हें पढ़ने पर यह महसूस होता है कि उन्हें 'बहुजन' अवधारणा ही प्रिय थी तथा वे इसके महत्व को बखूबी समझते थे लेकिन उनके चिन्तन की कुछ सीमाएं थीं अथवा वे अपने स्वयं की सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण 'निष्पक्षता' का मनोवैज्ञानिक दबाव महसूस करते थे।

उस साक्षात्कार में इस सम्बन्ध में मेरे अन्य सवालों पर राजेंद्र यादव ने कहीं प्रसंग बदल देने की कोशिश की तो कहीं सहमत-असहमत होते रहे।

(देखें, 'फारवर्ड प्रेस' के अगस्त और सितंबर, 2011 अंक में प्रकाशित राजेंद्र यादव से प्रमोद रंजन व आयवन कोस्का की बातचीत)

उत्पीड़न का मिथक और वास्तविकता

उपरोक्त सवालों पर राजेंद्र जी के उत्तर दे देने अथवा निरूत्तर हो जाने से अधिक महत्वपूर्ण यह है कि क्या इन सवालों से बच निकलने का कोई मार्ग मौजूद है? अगर साहित्यिक विमर्शों को फिलहाल दरकिनार भी कर दें और सामाजिक-राजनैतिक स्तर के संघर्ष की बात करें तो क्या हम सिर्फ अनुसूचित जाति की बात करके संपूर्ण अन्य पिछड़ा वर्ग व अनुसूचित जनजातियों को ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व के सुगम चारे के रूप में नहीं छोड़ रहे हैं?

कुछ 'प्रगतिशील' लोग भी यह दावा करते हैं कि अन्य पिछड़ा वर्ग अनुसूचित जातियों का उत्पीड़क रहा है, इसलिए उनके बीच किसी भी स्तर पर एका नहीं हो सकता। मुझे नहीं पता कि इस प्रकार के उत्पीड़न का सर्वेक्षण उन्होंने किस एजेंसी से करवाया होता है, लेकिन आश्चर्य तब होता है जब यही लोग 'प्रगतिशील द्विज' और अनुसूचित जाति के गठजोड़ की वकालत करते हैं। क्या प्रगतिशील सिर्फ द्विज ही हो सकते हैं?

वास्तव में उनसे यह सवाल भी पूछा जाना चाहिए कि क्या उन्होंने इस प्रसंग में अपने देश की सामाजिक और संवैधानिक व्यवस्था के बारे कभी विचार किया है, या किन्हीं और शक्तियों के प्रभाव में अपना विचार बनाते रहे हैं? आंकड़े तो यही बताते हैं कि उत्पीड़न के अधिकांश मामले द्विज, ब्राह्मणवादी ताकतों की ओर से इन दोनों वंचित तबकों पर होते हैं। हरियाणा के जाटों द्वारा भी जिन निचली जातियों पर हिंसक वारदातें की जाती हैं, उनमें अन्य पिछड़ा वर्ग और अनुसूचित जाति, दोनों से सम्बन्धित जातियां होती हैं। कुछ राज्यों में अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल यादव और कुर्मी जाति को अनुसूचित जातियों का उत्पीड़क कहा जाता है, और यह काफी हद तक सही भी हो सकता है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रणवीर सेना सरीखी ताकतों के हमले में अनुसूचित जातियों के साथ-साथ यादव और कुर्मी

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

जाति पर भी कहर बरपता है और इनके सैंकड़ों लोग इन हमलों में मारे जाते रहे हैं।

दलितों और पिछड़ों को एक दूसरे के विरूद्ध खड़ा करने वाले 'प्रगतिशीलों' से यह भी पूछा जाना चाहिए कि क्या ओबीसी, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति आदि कोई स्थिर सामाजिक समूह हैं? वास्तविकता यह है कि जो जाति आज अन्य पिछड़ा वर्ग में है, वह कल अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति में भी हो सकती है। विभिन्न जातियों अपनी श्रेणी में परिवर्तन के लिए दावे करती रहती हैं तथा हर साल कई जातियों के दर्जे में सरकारी स्तर पर परिवर्तन होता रहता है। और क्या सिर्फ जाट, यादव और कुर्मी ही अन्य पिछड़ा वर्ग हैं? मंडल कमीशन ने 1980 में जो रिपोर्ट भारत सरकार को सौंपी थी, उसमें 3,743 जातियों को अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के रूप में चिन्हित किया था। आज सरकारी स्तर पर अन्य पिछड़ी वर्ग की जातियों की संख्या 5000 को पार कर चुकी है। इन वर्षों में अनेक पिछड़ी जातियों को अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति की सूची में भी शामिल किया गया है। इसी तरह पूर्व की अनेक अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां भी ओबीसी में शामिल होती रहती हैं। यह फेरफार निरंतर चलता रहता है। इस हेरफेर में राजनीतिक हथकंडे भी शामिल रहते हैं, लेकिन जो लोग अन्य पिछड़ा वर्ग को अनुसूचित जातियों का शोषक करार देते हैं, वे जरा पिछडा वर्गों की सूची पर एक नजर डाल लें। डोम, मदारी, बनजारा, खटिक, कोली, कोल, नामशूद्र, धोबी, भांड, मोची, दुसाध, पासी, भाट, मुंडा, संताल, मांझी, गोंड, मीणा जैसी सैकड़ों जातियां विभिन्न राज्यों की ओबीसी की सूची में हैं (देखें मंडल कमीशन की रिपोर्ट, 1980)। उपरोक्त जैसी दर्जनों जातियां हैं, जो एक राज्य में ओबीसी की सूची में हैं लेकिन किसी अन्य राज्य में अनुसूचित जाति तो कहीं अनुसूचित जनजाति की सूची में हैं। इसके अतिरिक्त 5000 से अधिक जातियों वाली इस ओबीसी सूची का अधिकांश हिस्सा बढ़ई, लोहार, सैनी, चौरसिया, पंसारी, पिंजारा, धुनिया, नाई, जुलाहा, तांती, भिश्ती, ढोली, कमरिया, कसेरा, कुम्हार, नोनिया, माली, भडभूंजा, बिन्द, बाजीगर, कबाड़ी, केवट, कलवार, कानू, दर्जी, कहार, राइन, तम्बोली, चूड़ीहारा, चिड़िमार, भटियारा सरीखी जातियों से बना है। क्या इन जातियों का नाम ही इनकी सामाजिक स्थिति को समझने के लिए काफी नहीं है? जाहिर है 'उत्पीड़न' के उपरोक्त मिथक की निर्मिति सिर्फ इसलिए की गई है ताकि वास्तविक उत्पीड़क समूहों से ध्यान हटाया जा सके और बहुजनों की एकता को खंडित किया जा सके।

साहित्येतिहास और आलोचना के दो खेमे

बहरहाल, हिन्दी साहित्य के इतिहास को आज प्रायः दो दृष्टिकोणों से देखा जाता है। एक खेमा उन कलावादियों और मार्क्सवादियों का है (इस मसले पर दोनों लगभग एकमत ही हैं), जो इतिहास लेखन को रामचंद्र शुक्ल द्वारा दी गई दिशा में ही आगे बढ़ाने का आग्रही है, जबकि दूसरा खेमा हंसवादी लेखकों का है, जो अपने एकांगीपन को विभिन्न प्रकार के पर्दो में ढंकने की निरंतर कोशिश करते रहते हैं। पहला खेमा कहता है कि साहित्य को 'संपूर्णता' में देखना चाहिए तथा लेखक की सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर कोई विचार नहीं होना चाहिए। साहित्य को या तो सिर्फ कला मानकों के आधार पर पर परखा जाना चाहिए या फिर उसकी राजनैतिक पक्षधरता के आधार पर। इन कलावादियों-मार्क्सवादियों को हिन्दी के कालजयी कवि और आलोचक मुक्तिबोध के लेख 'मध्युगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलु' (नई दिशा, 1955) की याद दिलानी चाहिए। इस लेख में मुक्तिबोध दो प्रकार के संत कवियों की परम्परा को चिन्हित करते हैं - ब्राह्मण और ब्राह्मणेत्तर। वे इस लेख में स्थापना देते हैं कि - *''किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यो का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आंतरिक तत्व रूपायित किए हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उनका उपयोग या दुरूपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?''*

हिन्दी साहित्य के इतिहास और आलोचना के प्रतिमानों का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध 'राजनैतिक दृष्टिकोण' को संज्ञान में नहीं लेते। साहित्य को देखने की उनकी उपरोक्त तीन में पहली और तीसरी कसौटी सीधे तौर पर लेखक की सामाजिक पृष्ठभूमि से सम्बन्धित हैं। दूसरी कसौटी के रूप में वे साहित्य का निर्माण करने वाली 'प्रेरणाओं और भावनाओं' को रखते हैं। यह अनायास नहीं है कि साहित्य को कथित 'संपूर्णता' में देखने के आग्रही आलोचक मुक्तिबोध के इस लेख को, जो उनके सबसे महत्वपूर्ण लेखों में से एक है, को भूल से भी उद्धृत नहीं करते। वस्तुतः इनके द्वारा किये जाने वाले 'संपूर्णता' के आग्रह में एक खास तबके के साहित्य और विचार के वर्चस्व का आग्रह छुपा होता है।

बहुजन अवधारणा की जरूरत

जरूरत इस बात की है कि ब्राह्मणवाद के मूल्यों को खारिज करने वाला समतावादी साहित्य हिन्दी की मुख्यधारा बने। इस मुख्यधारा में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग व अल्पसंख्यक समूहों के पसमांदा वर्ग तथा सभी स्त्रियों का साहित्य शामिल हो। यह तभी सम्भव है जब प्रगतिशील और 'दलित साहित्य' का विस्तार और विकास पुनः 'बहुजन साहित्य' के रूप में होना आरंभ हो। सिद्धों, नाथपंथियों, संतों से लेकर आधुनिक साहित्य के इतिहास में इनके सांझेपन का आधार

मौजूद है। (देखें, हिन्दी साहित्य का सबार्ल्टन इतिहास, सिद्ध साहित्य से संत साहित्य तक, डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह, गौतम बुक सेंटर, 2009) सिर्फ आवश्यकता है उन्हें व्यापक स्तर पर चिन्हित करने की।

इस किताब का मकसद यही है कि अब तक लिखे गये साहित्येतिहासों पर बहुजन दृष्टिकोण से विहंगम दृष्टि डाली जाए तथा छूट गए नायकों की एक बानगी दिखाई जाए। इन दृष्टांतों के माध्यम से साहित्य के उन विद्यार्थियों को 'बहुजन साहित्य' की अवधारणा पर विचार करने के लिए प्रेरित किया जाए, जो भविष्य में इतिहास लिखेंगे। विश्व पुस्तक मेला-2016 के लिए बहुत कम समय में तैयार की गयी यह पुस्तक अगर इस दिशा में तनिक भी सफल होती है, तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा।

–प्रमोद रंजन

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू

मुक्तिबोध

मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पन्थ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय सन्त तुलसीदास जी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? क्या कारण है कि हिन्दी-क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदास जी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है? समाज के पारिवारिक क्षेत्र में इस कट्टरपन को अब नये पंख भी फूटने लगे हैं। खैर, लेकिन यह इतिहास दूसरा है। मूल प्रश्न जो मैंने उठाया है उसका कुछ-न-कुछ मूल उत्तर तो है ही।

मैं यह समझता हूँ कि किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान लें। कबीर हमें आपेक्षिक रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में कहीं छिपा हुआ है। जहाँ तक महाराष्ट्र की सन्त-परम्परा का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि मराठी सन्त-कवि, प्रमुखतः दो वर्गों से आये हैं, एक ब्राह्मण और दूसरे ब्राह्मणेतर। इन दो प्रकार के सन्त-कवियों के मानव-धर्म में बहुत कुछ समानता होते हुए भी, दृष्टि और रुझान का भेद भी था। ब्राह्मणेतर सन्त-कवि की काव्य-भावना अधिक जनतन्त्रात्मक, सर्वांगीण और मानवीय थी। निचली जातियों की आत्म-प्रस्थापना के उस युग में, कट्टर पुराणपन्थियों ने जो-जो तकलीफ़ें इन सन्तों को दी हैं उनसे ज्ञानेश्वर-जैसे प्रचण्ड प्रतिभावान सन्त का जीवन अत्यन्त करुण, कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानेवश्वरी तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा। उक्त ग्रन्थ की कीर्ति का इतिहास तो तब से शुरू होता है जब वह पुनः प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट ही है कि समाज के कट्टरपन्थियों ने इन सन्तों को अत्यन्त कष्ट दिया। इन कष्टों का क्या कारण था? और ऐसी क्या बात हुई कि जिस कारण निम्न जातियाँ

अपने सन्तों को लेकर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में कूद पड़ीं?

मुश्किल यह है कि भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास के सुसम्बद्ध इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री का बड़ा अभाव है। हिन्दू इतिहास लिखते नहीं थे, मुस्लिम लेखक घटनाओं का ही वर्णन करते थे। इतिहास-लेखन पर्याप्त आधुनिक है। शान्तिनिकेतन के तथा अन्य पण्डितों ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में बहुत अन्वेषण किये हैं। किन्तु सामाजिक-आर्थिक विकास के इतिहास के क्षेत्र में अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं हुआ है।

ऐसी स्थिति में हम कुछ सर्वसम्मत तथ्यों को ही आपके सामने प्रस्तुत करेंगे।

(1) भक्ति-आन्दोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्माशावादी वेद-उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार सन्तों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।

(2) ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की गरीब जनता में भक्ति आन्दोलन का प्रभाव अत्यधिक हुआ। राजनैतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रकार के सामन्ती उच्चवर्गीयों से पीड़ित रही। सन्तों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस-संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि सन्तों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया। इस सांस्कृतिक आत्म-प्रस्थापना के उपरान्त सिर्फ एक और कदम की आवश्यकता थी।

वह समय भी शीघ्र ही आया। गरीब उद्धत किसान तथा अन्य जनता को अपना एक और सन्त, रामदास, मिला और एक नेता प्राप्त हुआ, शिवाजी। इस युग में राजनैतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म और विकास हुआ। शिवाजी के समस्त छापेमार युद्धों के सेनापति और सैनिक, समाज के शोषित तबकों से आये। आगे का इतिहास आपको मालूम ही है—किस प्रकार सामन्तवाद टूटा नहीं, किसानों की पीड़ाएँ वैसी ही रहीं, शिवाजी के उपरान्त राजसत्ता उच्च वंशोत्पन्न ब्राह्मणों के हाथ पहुँची, पेशवाओं (जिन्हें मराठे भी जाना जाता रहा) ने किस प्रकार के युद्ध किये और वे अँग्रेजों के विरुद्ध क्यों असफल रहे, इत्यादि।

(3) उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निरूसन्देह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ-सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति-आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी था। वह हुआ, तकलीफें हुईं। लेकिन एक बात हो गयी।

शिवाजी स्वयं मराठा क्षत्रिय था, किन्तु भक्ति-आन्दोलन से, जाग्रत जनता के कष्टों से, खूब परिचित था, और स्वयं एक कुशल संगठक और वीर सेनाध्यक्ष था। सन्त रामदास, जिसका उसे आशीर्वाद प्राप्त था, स्वयं सनातनी ब्राह्मणवादी था, किन्तु नवीन जाग्रत जनता की शक्ति से खूब परिचित भी था। सन्त से अधिक वह स्वयं एक सामन्ती राष्ट्रवादी नेता था। तब तक कट्टरपंथी शोषक तत्त्वों में यह भावना पैदा हो गयी थी कि निम्नजातीय सन्तों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मण-शक्तियाँ स्वयं उन्हीं सन्तों का कीर्तन-गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन-गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करती जा रही थीं। एक प्रकार से उन्होंने अपनी परिस्थिति से समझौता कर लिया था। दूसरे, भक्ति आन्दोलन के प्रधान सन्देश से प्रेरणा प्राप्त करने वाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे थे। रामदास, एक प्रकार से, ब्राह्मणों में से आये हुए अन्तिम सन्त हैं, इसके पहले एकनाथ हो चुके थे। कहने का सारांश यह कि नवीन परिस्थिति में यद्यपि युद्ध-सत्ता (राजसत्ता) शोषित और गरीब तबकों से आये सेनाध्यक्षों के पास थी, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में पुराने सामन्तवादियों और नये सामन्तवादियों में समझौता हो गया था। नये सामन्तवादी कुनवियों, धनगरों, मराठों और अन्य गरीब जातियों से आये हुए सेनाध्यक्ष थे। इस समझौते का फल यह हुआ कि पेशवा ब्राह्मण हुए, किन्तु युद्ध-सत्ता नवीन सामन्तवादियों के हाथ में रही।

उधर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में निम्नवर्गीय भक्तिमार्ग के जनवादी सन्देश के दाँत उखाड़ लिये गये। उन सन्तों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके सन्देश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया, और जातिवादी पुराणधर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।

(4) उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आन्दोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास आदि सन्तों की बानियों का सन्देश, तत्कालीन मानों के अनुसार, बहुत अधिक क्रांन्तिकारी था। यह आकस्मिकता न थी कि चण्डीदास कह उठता है :

शुनह मानुष भाई
शबार ऊपरे मानुष शतो
ताहार उपरे नाई।

इस मनुष्य-सत्य की घोषणा के क्रांतिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए। कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्म-गौरव का भाव हुआ। समाज की शासक-सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशी संस्कारशील अभिरुचिवालों

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारम्भिक विकास कृष्णभक्ति के रूप में हुआ। यह कृष्णभक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित थी। उच्चवर्गीयों का एक भावुक तबका भक्ति-आन्दोलन से हमेशा प्रभावित होता रहा, चाहे वह दक्षिण भारत में हो या उत्तर भारत में। इस कृष्णभक्ति में जातिवाद के विरुद्ध कई बातें थीं। वह एक प्रकार से भावावेशी व्यक्तिवाद था। इसी कारण, महाराष्ट्र में, निर्गुण मत के बजाय निम्न-वर्ग में, सगुण मत ही अधिक फैला। सन्त तुकाराम का बिठोबा एक सार्वजनिक कृष्ण था। कृष्णभक्तिवाली मीरा श्लोकलाज छोड़ चुकी थी। सूर कृष्ण-प्रेम में विभोर थे। निम्नवर्गीयों में कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए पर्याप्त अवकाश था, जैसा महाराष्ट्र की सन्त परम्परा का इतिहास बतलाता है। उत्तर भारत में कृष्णभक्ति-शाखा का निर्गुण मत के विरुद्ध जैसा संघर्ष हुआ वैसा महाराष्ट्र में नहीं रहा। महाराष्ट्र में कृष्ण की शृंगार-भक्ति नहीं थी, न भ्रमरगीतों का जोर था। कृष्ण एक तारणकर्ता देवता था, जो अपने भक्तों का उद्धार करता था, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। महाराष्ट्रीय सगुण कृष्णभक्ति में शृंगारभावना, और निर्गुण भक्ति, इन दो के बीच कोई संघर्ष नहीं था। उधर उत्तर भारत में, नन्ददास वगैरह कृष्णभक्तिवादी सन्तों की निर्गुण मत-विरोधी भावना स्पष्ट ही है। और ये सब लोग उच्चकुलोद्भव थे। यद्यपि उत्तर भारतीय कृष्णभक्ति वाले कवि उच्चवंशीय थे, और निर्गुण मत से उनका सीधा संघर्ष भी था, किन्तु हिन्दू समाज के मूलाधार यानी वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियों ने जातिवाद-विरोधी विचारों पर सीधी चोट नहीं की थी। किन्तु उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन पर उनका प्रभाव निर्णायक रहा।

एक बार भक्ति-आन्दोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास जी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रान्तिकारी सन्देश था। कृष्णभक्ति में वह बिल्कुल कम हो गया किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रान्तिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण-मतवादियों का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदास जी ने मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था-जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी—उत्पन्न की। राम निषाद और गुह का आलिंगन कर सकते थे, किन्तु निषाद और गुह ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते थे। दार्शनिक क्षेत्र का निर्गुण मत जब व्यावहारिक रूप से ज्ञानमार्गी भक्तिमार्ग बना, तो उसमें पुराण-मतवाद को स्थान नहीं था। कृष्णभक्ति के द्वारा पौराणिक कथाएँ घुसीं, पुराणों ने रामभक्ति के रूप में आगे चलकर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा की।

साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के सन्देश से अधिक क्रान्तिकारी था। तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्त्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर हैं, किन्तु चूँकि राम ही ने सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम धर्म और जातिवाद को तो मानना ही होगा। पं. रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं, वह यों ही नहीं। इसके पीछे उनकी सारी पुराण-मतवादी चेतना बोलती है।

क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति-शाखा के अन्तर्गत, एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया? क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति-शाखा के अन्तर्गत रसखान और रहीम-जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रह आये, किन्तु रामभक्ति-शाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जब कि यह एक स्वतः सिद्ध बात है कि निर्गुण-शाखा के अन्तर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।

निष्कर्ष यह कि जो भक्ति-आन्दोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य-सत्य बोलता था, उसी भक्ति-आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

और इस प्रकार, उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का-समाज के संचालक शासक वर्गों का-धार्मिक—सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर, साहित्यिक क्षेत्र में उन वर्गों के प्रधान भाव—शृंगार-विलास—का प्रभावशाली विकास हुआ, और भक्ति-काव्य की प्रधानता जाती रही। क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति-आन्दोलन के प्रधान (हिन्दी क्षेत्र में) अन्तिम कवि थे? सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र में यह परिवर्तन भक्ति-आन्दोलन की शिथिलता को द्योतित करता है। किन्तु यह आन्दोलन इस क्षेत्र में शिथिल क्यों हुआ?

ईसाई मत का भी यही हाल हुआ। ईसा का मत जनसाधारण में फैला तो यहूदी धनिक वर्गों ने उसका विरोध किया, रोमन शासकों ने उसका विरोध किया। किन्तु जब वह जनता का अपना धर्म बनने लगा, तो धनिक यहूदी और रोमन लोग भी उसको स्वीकार करने लगे। रोम शासक ईसाई हुए और सेंट पॉल ने उसी भावुक प्रेममूलक धर्म को कानूनी शिकंजों में जकड़ लिया, पोप जनता से फीस लेकर पापों और अपराधों के लिए क्षम-पत्र वितरित करने लगा।

यदि हम धर्मों के इतिहास को देखें, तो यह जरूर पायेंगे कि तत्कालीन जनता

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

की दुरवस्था के विरुद्ध उसने घोषणा की, जनता को एकता और समानता के सूत्र में बाँधने की कोशिश की। किन्तु ज्यों-ज्यों उस धर्म में पुराने शासकों की प्रवृत्ति वाले लोग घुसते गये और उनका प्रभाव जमता गया, उतना-उतना गरीब जनता का पक्ष न केवल कमजोर होता गया, वरन् उसको अन्त में उच्चवर्गों की दासता—धार्मिक दासता—भी फिर से ग्रहण करनी पड़ी।

क्या कारण है कि निर्गुण-भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका? उसका मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करने वाली पूँजीवादी क्रांतिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं। भारतीय स्वदेशी पूँजीवाद की प्रधान भौतिक-वास्तविक भूमिका विदेशी पूँजीवादी साम्राज्यवाद ने बनायी। स्वदेशी पूँजीवाद के विकास के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद का अभ्युदय और सुधारवाद का जन्म हुआ, और उसने सामन्ती समाज-रचना के मूल आर्थिक आधार, यानी पेशेवर जातियों द्वारा सामाजिक उत्पादन की प्रणाली समाप्त कर दी। गाँवों की पंचायती व्यवस्था टूट गयी। ग्रामों की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी।

भक्ति-काल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। यद्यपि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही, और उसकी पूर्वभूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही। किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता है कि भक्ति-आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। किन्तु पण्डित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम-विरोध और हिन्दू-राज सत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते। असल बात यह है कि मुसलमान सन्त-मत भी उसी तरह कट्टरपन्थियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति-मार्ग। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी थे। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति-भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुःखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुःस्थिति छिपी हुई थी। यहाँ यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि यह बात साधारण जनता और उसमें से निकले हुए सन्तों की है, चाहे वे ब्राह्मण वर्ग से निकले हों या ब्राह्मणेतर वर्ग से। साथ ही, यह भी स्मरण रखना होगा कि शृंगार-भक्ति का रूप उसी वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित हुआ जहाँ ऐसी शृंगार-भावना के परिपोष के लिए पर्याप्त अवकाश और समय था, फुर्सत का समय। भक्ति-आन्दोलन का आविर्भाव, एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में, जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।

किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियायों का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किये हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?

तुलसीदास जी ने सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न अत्यन्त आवश्यक भी हैं। रामचरितमानसकार एक सच्चे सन्त थे, इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। रामचरितमानस साधारण जनता में भी उतना ही प्रिय रहा जितना कि उच्चवर्गीय लोगों में। कट्टरपन्थियों ने अपने उद्देश्यों के अनुसार तुलसीदास जी का उपयोग किया, जिस प्रकार आज जनसंघ और हिन्दू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया। सुधारवादियों की तथा आज की भी एक पीढ़ी को तुलसीदास जी के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा, यह भी एक बड़ा सत्य है।

किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि साधारण जनता ने राम को अपना त्राणकर्ता भी पाया, गुह और निषाद को अपनी छाती से लगाने वाला भी पाया। एक तरह से जनसाधारण की भक्ति-भावना के भीतर समाये हुए समान प्रेम का आग्रह भी पूरा हुआ, किन्तु वह सामाजिक ऊँच-नीच को स्वीकार करके ही। राम के चरित्र द्वारा और तुलसीदास जी के आदेशों द्वारा सदाचार का रास्ता भी मिला। किन्तु वह मार्ग कबीर के और अन्य निर्गुणवादियों के सदाचार का जनवादी रास्ता नहीं था। सच्चाई और ईमानदारी, प्रेम और सहानुभूति से ज्यादा बड़ा तकाजा था सामाजिक रीतियों का पालन। (देखिए रामायण में अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश)। उन रीतियों और आदेशों का पालन करते हुए, और उसकी सीमा में रहकर ही, मनुष्य के उद्धार का रास्ता था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस हद तक तुलसीदासजी इन आदेशों का पालन करवाना चाहते थे और किस हद तक नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि उनका सुझाव किस ओर था। तुलसीदास जी द्वारा इस वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के अनन्तर हिन्दी साहित्य में फिर से कोई महान भक्त-कवि नहीं हुआ तो इसमें आश्चर्य नहीं।

आश्चर्य की बात यह है कि आजकल प्रगतिवादी क्षेत्रों में तुलसीदास जी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें जिस सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदास जी अंग थे, उसको जान-बूझकर भुलाया गया है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की वर्णाश्रमधर्मी जातिवादग्रस्त सामाजिकता और सच्चे जनवाद को एक-दूसरे से ऐसे मिला दिया गया है मानो शुक्लजी (जिनके प्रति हमारे मन में अत्यन्त आदर है) सच्ची जनवादी सामाजिकता के पक्षपाती हों। तुलसीदास जी को पुरातनवादी कहा जायेगा कबीर की तुलना में, जिनके विरुद्ध शुक्ल जी ने चोटें की हैं।

दूसरे, जो लोग शोषित निम्नवर्गीय जातियों के साहित्यिक और सांस्कृतिक सन्देश में दिलचस्पी रखते हैं, और उस सन्देश के प्रगतिशील तत्त्वों के प्रति आदर रखते

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

हैं, वे लोग तो यह जरूर देखेंगे कि जनता की सामाजिक मुक्ति को किस हद तक किसने सहारा दिया और तुलसीदासजी का उसमें कितना योग रहा। चाहे श्री रामविलास शर्मा-जैसे मार्क्सवादी आलोचक हमें 'वल्गर मार्क्सवादी या बुर्जुवा कहें, यह बात निस्सन्देह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण के बिना, तुलसीदास जी के साहित्य के अन्तःस्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक रामचरितमानस की काव्यगत सफलताओं का प्रश्न है, हम उनके सम्मुख केवल इसलिए नतमस्तक नहीं हैं कि उसमें श्रेष्ठ कला के दर्शन होते हैं, बल्कि इसलिए कि उसमें उक्त मानव-चरित्र के, भव्य और मनोहर व्यक्तित्व-सत्ता के भी दर्शन होते हैं।

तुलसीदास जी की रामायण पढ़ते हुए, हम एक अत्यन्त महान् व्यक्तित्व की छाया में रहकर अपने मन और हृदय का आप-ही-आप विस्तार करने लगते हैं और जब हम कबीर आदि महान् जनोन्मुख कवियों का सन्देश देखते हैं, तो हम उनके रहस्यवाद से भी मुँह मोड़ना चाहते हैं। हम उस रहस्यवाद के समाजशास्त्रीय अध्ययन में दिलचस्पी रखते हैं, और यह कहना चाहते हैं कि निर्गुण मत की सीमाएँ तत्कालीन विचारधारा की सीमाएँ थीं, जनता का पक्ष लेकर जहाँ तक जाया जा सकता था, वहाँ तक जाना हुआ। निम्नजातीय वर्गों के इस सांस्कृतिक योग की अपनी सीमाएँ थीं। ये सीमाएँ उन वर्गों की राजनैतिक चेतना की सीमाएँ थीं। आधुनिक अर्थों में, वे वर्ग कभी जागरूक सामाजिक-राजनैतिक-संघर्ष-पथ पर अग्रसर नहीं हुए। इसका कारण क्या है, यह विषय यहाँ अप्रस्तुत है। केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि संघर्षहीनता के अभाव का मूल कारण भारत की सामन्तयुगीन सामाजिक-आर्थिक रचना में है। दूसरे, जहाँ ये संघर्ष करते-से दिखायी दिये, वहाँ उन्होंने एक नये सामन्ती शासक वर्ग को ही दृढ़ किया, जैसा कि महाराष्ट्र में हुआ है।

प्रस्तुत विचारों के प्रधान निष्कर्ष ये हैं :

(1) निम्नवर्गीय भक्ति-भावना एक सामाजिक परिस्थिति में उत्पन्न हुई और दूसरी सामाजिक स्थिति में परिणत हुई। महाराष्ट्र में उसने एक राष्ट्रीय जाति खड़ी कर दी, सिख एक नवीन जाति बन गये। इन जातियों ने तत्कालीन सर्वोत्तम शासक वर्गों से मोर्चा लिया। भक्तिकालीन सन्तों के बिना महाराष्ट्रीय भावना की कल्पना नहीं की जा सकती, न सिख गुरुओं के बिना सिख जाति की। सारांश यह कि भक्ति भावना के राजनैतिक गर्भितार्थ थे। ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरुद्ध थे।

(2) इस भक्ति-आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्नवर्गीय तत्त्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपंथी तत्त्व, जो कि तत्कालीन हिन्दू सामन्ती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक जनचेतना के एकदम विरुद्ध थे। वे उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी करते रहे। मुस्लिम तत्त्वों से मार खाकर भी, हिन्दू सामन्ती वर्ग उनसे समझौता करने की विवश्ता स्वीकार कर, उनसे एक प्रकार से मिले हुए थे। उत्तर भारत में हिन्दुओं के कई वर्गों का पेशा ही मुस्लिम वर्गों की सेवा करना था। अकबर ही पहला शासक था, जिसने तत्कालीन तथ्यों के आधार पर खुलकर हिन्दू सामन्तों का स्वागत किया।

उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में हिन्दू सामन्ती तत्त्व मुसलमान सामन्ती तत्त्वों से छिटककर नहीं रह सके। लूट-पाट, नोच-खसोट के उस युग में जनता की आर्थिक-सामाजिक दुःस्थिति गम्भीर थी। निम्नवर्गीय जातियों के सन्तों की निर्गुण-वाणी का, तत्कालीन मानों के अनुसार, क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर, अपनी सामाजिक स्थिति के विरुद्ध क्षोभ और अपने लिए अधिक मानवोचित परिस्थिति की आवश्यकता बतलाता था। भक्तिकाल की निम्नवर्गीय चेतना के सांस्कृतिक स्तर अपने-अपने सन्त पैदा करने लगे। हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्वों के शोषण-शासन और कट्टरपंथी दृढ़ता से प्रेरित हिन्दू-मुस्लिम जनता भक्ति-मार्ग पर चल पड़ी थी, चाहे वह किसी भी नाम से क्यों न हो। निम्नवर्गीय भक्ति-मार्ग निर्गुण-भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस निर्गुण-भक्ति में तत्कालीन सामन्तवाद-विरोधी तत्त्व सर्वाधिक थे। किन्तु तत्कालीन समाज-रचना के कट्टर पक्षपाती तत्त्वों में से बहुतेरे भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव में आ गये थे। इनमें से बहुत-से भद्र सामन्ती परिवारों में से थे। निर्गुण भक्ति की उदारवादी और सुधारवादी सांस्कृतिक विचारधारा का उन पर भारी प्रभाव हुआ। उन पर भी प्रभाव तो हुआ, किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित किया। अपने कट्टरपन्थी पुराणमतवादी संस्कारों से प्रेरित होकर, उत्तर भारत की कृष्णभक्ति, भावावेशवादी आत्मवाद को लिये हुए, निर्गुण मत के विरुद्ध संघर्ष करने लगी। इन सगुण मत में उच्चवर्गीय तत्त्वों का पर्याप्त से अधिक समावेश था। किन्तु फिर भी इस सगुण शृंगार प्रधान भक्ति की इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह जाति-विरोधी सुधारवादी वाणी के विरुद्ध प्रत्यक्ष और प्रकट रूप से वर्णाश्रम धर्म के सार्वभौम औचित्य की घोषणा करे। कृष्णभक्तिवादी सूर आदि सन्त-कवि इन्हीं वर्गों से आये थे। इन कवियों ने भ्रमरगीतों द्वारा निर्गुण मत से संघर्ष किया और सगुणवाद की प्रस्थापना की। वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के लिए सिर्फ एक ही कदम आगे बढ़ना जरूरी था। तुलसीदास जी के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन, जिस पर प्रारम्भ में निम्नजातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण मतवाद की विजय हुई। इसमें दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्व एक थे। यद्यपि हिन्दू मुसलमानों के अधीन थे, किन्तु दुःख और खेद से ही क्यों न सही, यह विवशता उन्होंने स्वीकार कर ली थी। इन हिन्दू सामन्त तत्त्वों की सांस्कृतिक क्षेत्र में अब पूरी विजय हो गयी थी।

(3) महाराष्ट्र में इस प्रक्रिया ने कुछ और रूप लिया। जन-सन्तों ने अप्रत्यक्ष

रूप से महाराष्ट्र को जाग्रत और सचेत किया, रामदास और शिवाजी ने प्रत्यक्ष रूप से नवीन राष्ट्रीय जाति को जन्म दिया। किन्तु तब तक ब्राह्मणवादियों और जनता के वर्ग से आये हुए प्रभावशाली सेनाध्यक्षों और सन्तों में एक-दूसरे के लिए काफी उदारता बतलायी जाने लगी। शिवाजी के उपरान्त, जनता के गरीब वर्गों से आये हुए सेनाध्यक्षों और नेताओं ने नये सामन्ती घराने स्थापित किये। नतीजा यह हुआ कि पेशवाओं के काल में ब्राह्मणवाद फिर जोरदार हो गया। कहने का सारांश यह कि महाराष्ट्र में वही हाल हुआ जो उत्तर प्रदेश में। अन्तर यह था कि निम्नजातीय सांस्कृतिक चेतना जिसे पल-पल पर कट्टरपंथ से मुकाबला करना पड़ा था, वह उत्तर भारत से अधिक दीर्घकाल तक रही। पेशवाओं के काल में दोनों की स्थिति बराबर-बराबर रही। किन्तु आगे चलकर, अँग्रेजी राजनीति के जमाने में, पुराने संघर्षों की यादें दुहरायी गयीं, और 'ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद' का पुनर्जन्म और विकास हुआ। और इस समय भी लगभग वही स्थिति है। फर्क इतना ही है कि निम्नजातियों के पिछड़े हुए लोग शिड्यूल कास्ट फेडरेशन में है, और अग्रगामी लोग काँग्रेस, पेजेंट्स ऐण्ड वर्कर्स पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य वामपक्षी दलों में शामिल हो गये हैं। आखिर जब इन्हीं जातियों में से पुराने जमाने में सन्त आ सकते थे, आगे चलकर सेनाध्यक्ष निकल सकते थे, तो अब राजनैतिक विचारक और नेता क्यों नहीं निकल सकते?

(4) सामन्तवादी काल में इन जातियों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूँजीवादी समाज-रचना सामन्ती समाज-रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक-सामाजिक समानता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि समाज आर्थिक-सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाये।

(5) किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक धरातल पर आत्मप्रकटीकरण किया है। कबीर, तुलसीदास आदि सन्तों के अध्ययन के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है। मैं इस ओर प्रगतिवादी क्षेत्र का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

*(सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि गजानन माधव **'मुक्तिबोध'** (1917-1964) गम्भीर चिन्तक भी थे। भक्ति आन्दोलन पर उनका यह आलेख कई दृष्टियों से आज भी प्रासंगिक है। पहली दफा यह 'नयी दिशा' पत्रिका में मई 1955 में प्रकाशित हुआ था।—संपादक)*

रामचन्द्र शुक्ल की धर्म भूमि

सुधीश पचौरी

मलयज की किताब रामचन्द्र शुक्ल को पढ़ते हुए दो बातें प्रबल भाव से प्रकट होती हैं : आलोचना को कितने 'पास से' पढ़ा जाना चाहिए और कि क्या आलोचना का भी रचना की तरह एक मर्म-प्रदेश होता है और निज-लोक होता है?

इनमें से पहली बात तो नव्यसमीक्षा की पाठप्रविधि से मेल खाती है, दूसरी बात पाँचवें-छठे दशक में यानी शीतयुद्धकाल में प्रचलित कलावाद बरक्स लोकवाद के माहौल का परिणाम है जो बताती है कि सामाजिक जनवाद अपने विकासमूलक रूप में लोक की खोज और उसकी सरंचना करते हुए उसे उसके मार्मिक क्षण में ही बना पाता है। मलयज अचानक कहते हैं कि शुक्ल जी जिस 'आम आदमी' की बात करते हैं वह उन्हें बनारस में दिखा था जो शुक्ल का नाती ही था जो चौराहे पर भीख माँग रहा था (68)। आलोचना में ऐसे सच्चे या कल्पित प्रसंगों का प्रवेश मलयज को और फिर हमको एक नये शुक्ल से बावस्ता कर देता है। इस 'पर्सनल' की खोज में शुक्ल ड्राइंग मास्टर, प्रकृति-प्रेमी और 'आम आदमी' की सरंचना करने वाले बन जाते हैं। मलयज के इस निबन्ध में हम शुक्ल जी की आलोचना में सक्रिय सभी महत्त्वपूर्ण व्यंजकों की एक स्पष्ट क्रमवार व्यवस्था पाते हैं और उन व्यंजकों में एक दुर्वह किन्तु भीतरी टकराव पाते हैं जिसे शुक्ल की आलोचना में प्राप्त होने वाले अक्षय 'पूर्वसत्यों' ने छिपा लिया है और वे उघड़ न जायें इस डर से मलयज ने भी छिपा रहने दिया है।

कोई एक सौ बीस पेज में नौ पेज नामवर जी ने लिख हैं जो सम्पादक की विज्ञप्ति और सम्पादकीय है। मूल किताब छियासी पेज की है। बीस पेज करीब मलयज के डायरीनुमा नोट्स है।

सम्पादकीय और मूल किताब दोनों की समान बात यह है कि दोनों ही रामचन्द्र शुक्ल को लेकर कोई भी 'नयी आलोचनात्मक जगह' नहीं बनाते। जिस तरह रामचन्द्र शुक्ल के लिए साहित्य में 'लोकधर्म' या 'लोक' एक पूर्वसत्य है इनके लिए भी वह

एक मान्य पूर्वसत्य है जिसकी टीका तो की जा सकती है आलोचना नहीं की जा सकती। हिन्दी के सबसे बड़े मान्य आलोचक पर बिना 'क्रिटीकल' हुए लिखे जाने के इस प्रमाण से गुजरते हुए जब आप आलोचना की जगह खोजने चलते हैं तो वह नहीं मिल पाती। यह आलोचना का 'सो' जाना है या रामचन्द्र शुक्ल के प्रति श्रद्धा में, डर में, चुप लगा जाना है या शायद सातवें-आठवें दशक में दूसरे-तीसरे दशक के 'लोक' को यथावत् स्वीकार करने की रणनीति है...

मलयज रामचन्द्र शुक्ल पर मुग्ध है। नामवर जी मलयज पर मुग्ध हैं अब पाठकर्ता की बारी है कि वह इस सन्देहरहित मुग्धा-भाव से इन दोनों पर एक साथ मुग्ध हो जाये। यह हिन्दी की आठवें दशक की आलोचना-बुद्धि का हाल है कि रामचन्द्र शुक्ल से कोई झगड़ा ही नहीं है। आलोचना की जो स्थिति आज है उसमें यदि शुक्ल जी की ऐसी आलोचनाविहीन उपस्थिति है या फिर अन्य आलोचना उनकी दुहरायी जाती टीका भर है। उनसे बहस तो नहीं है।

क्या वाकई रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना से हमारा कोई झगड़ा सम्भव नहीं है? रामचन्द्र शुक्ल पर रामविलास, नामवर और मलयज को पढ़ते हुए लगता है कि रामचन्द्र शुक्ल पर किसी विस्तृत 'स्वभावोक्ति' को पढ़ रहे हैं—'स्वभावोक्ति' जिसे रामचन्द्र शुक्ल कोई 'अलंकार' तक नहीं मानते।

रामचन्द्र शुक्ल हमारे पास तक एक नीरन्ध्र आलोचक के रूप में जितने आते हैं उतने ही उनकी नीरतान्ध्रता में सन्देह की गुंजाइश बननी चाहिए। सन्देह जो आलोचना का बीज होना चाहिए। शुक्ल जी ने 'कविता क्या है' में यह नहीं बताया कि आलोचना क्या है? उनके पूर्वसत्य उनके लिए इतने परम हैं उन्हीं की सिद्धि आलोचना की 'सिद्धि' बन जाती है। मजा यह है कि रामचन्द्र शुक्ल जितना 'साधनावस्था' पर जोर देते हैं उतनी ही वे अपने लिए 'सिद्धावस्था' बनाते हैं, इतनी कि आप उन पर शंका नहीं कर सकते। शुक्ल को तथा उन पर उपलब्ध टिप्पणियाँ पढ़ते लगा कि शुक्ल के 'श्रद्धा-भक्ति' का हिन्दी पर खासा असर है। 'नवधा' तो नहीं लेकिन कई प्रकार की भक्ति भावना यहाँ है जिसमें शंका करने वाला चित्त दण्ड का अधिकारी हो सकता है। श्रद्धा-भक्ति में बनने वाली भक्ति के व्यंजक इस कदर सर्वव्याप्त दिखते हैं कि वे शुक्लोत्तर समीक्षा में सीधे मूल्य की तरह चले जाते हैं। रामचन्द्र शुक्ल 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम पर अगाध श्रद्धा रखते हैं और रामविलास नामवर मलयज दूसरे राम/रामचन्द्र शुक्ल/पर। 'श्रद्धा' का यह अनवरत हस्तान्तरित व्यंजक आलोचना के कितने अँधेरे कोनों को छिपा दबा देता है यह देखना श्रद्धालुओं और भक्तों के बीच अश्रद्धालु को वही दुर्गति प्रदान करेगा जिसके बारे में तुलसी ने बहुत पहले और बाद में रामचन्द्र शुक्ल ने 'मानस की धर्मभूमि' में कहा है कि—

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही...

अब आप चुन लें : आप 'राम'/श्लेषार्थ-हमारा/ की ओर हैं या 'कोटि बैरी सम' हैं? और आपको कौन-सी गति मिलती है?

रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना एक 'ताकतवर सत्तामूलक विमर्श' भी है और उससे बाहर निकलकर आप व्यर्थ एवं निहायत हाशियाकृत हो सकते हैं। यह डर प्रति-विमर्शकर को उनके बाहर नहीं आने देता। रामचन्द्र शुक्ल का विमर्श ऐसा सशर्त, पूर्वसत्यों की जबर्दस्त उपस्थिति के साथ और 'हिन्दू जाति के अभ्युदय' के लिए बनाया गया विमर्श है और यही हिन्दी आलोचना का वह सत्ता केन्द्र है जो रामचन्द्र शुक्ल को नीरन्ध बनाता है और इतना नीरन्ध कि प्रगतिशील कहे जाने वालों को भी परम गति प्राप्त होकर रहती है।

रामचन्द्र शुक्ल 'आलोचक' से ज्यादा बड़े 'विमर्शकार' हैं और हिन्दी के एकमात्र 'हिन्दू विमर्शकार' हैं। नये खोजे जा रहे इन 'हिन्दू दिनों' में यदि उनके विमर्श में नीरन्ध्रता मिलती है या आलोचना-विहीनता बनती है तो उसके पीछे 'हिन्दू जाति का विमर्श' है जो सतत रक्षात्मक है। जो शुक्ल के जमाने में भी था और आज भी है। लेकिन रामचन्द्र शुक्ल के जबर्दस्त विमर्श में सक्रिय 'हिन्दुत्व'/यह इन दिनों की भाजपा का 'हिन्दुत्व' नहीं है, लेकिन उस तक आता जरूर है। आना ही चाहिए/और उसमें रहने वाली रक्षात्मक होती जाति के विमर्श को जीने वाला वह जनक्षेत्र बनता है जहाँ अवान्तर बात अपने-आप 'राम विरोधी' बन जाती है।

रामचन्द्र शुक्ल के पास 'हिन्दू जाति के मंगल का विधान' करने वाले जितने व्यंजक हैं उतने इन दिनों कथावाचकों यथा— आसाराम बापू, मुरारी बापू इत्यादि के यहाँ दैनिक प्रवचनों में आसानी से मिल जाते हैं। रामकथा और तुलसी उनके बड़े 'प्रदाता' हैं जिस खजाने से वे बार-बार अपने व्यंजकों को जुटाते हैं। 'जाति की रक्षा', 'मंगल विधान', 'अभ्युदय' वे व्यंजक हैं जो पहले के अर्थों को साथ लिये आते हैं। रामचन्द्र शुक्ल उन्हें समकालीन यानी आधुनिक बनती हैं। अरसे से सब रामचन्द्र शुक्ल की इस कोशिश पर गर्व करते हैं/ गर्व करना स्वाभाविक है। यह जाति के निर्माण का भी तो प्रश्न है। लेकिन उस गौरव से बाहर नहीं जा पाते, क्योंकि वे व्यंजनाएँ पाठकर्ता को 'हिन्दू' बनाकर हिन्दुत्व में लाकर उसे फिक्स करती हैं। सवाल उठता है : क्या हिन्दू या मुसलमान या सिख हो सकता है? उत्तर—संरचनावाद की विखंडनात्मक पाठात्मक रणनीति में ऐसा सम्भव है। हर विमर्श पाठकर्ता को पहले अपनी सत्ता के घेरे में कैद करता हैं। रामचन्द्र शुक्ल के व्यंजक यही करते है कि वे हिन्दू का एक 'भूमिगत' जगाते हैं, उसकी कामनाओं को अनुशासित करते और खोलते हैं, उसे एक केन्द्र देते हैं।

उनके 'लोक' में उनकी 'मंगल भावना' में, उसके संघर्ष में, उनकी 'श्रद्धा-भक्ति' में जो 'हिन्दू' बनता है, उसकी संरचना क्या है?

यदि हम रामचन्द्र शुक्ल के धार्मिक विमर्श की सत्ता को स्वीकार कर पढ़ें तो

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

हमें इसका जवाब मिल जायेगा, क्योंकि तब हमें हर बात का मर्म समझाने के लिए सोदाहरण व्याख्या करने वाले विमर्शकार शुक्ल में बहुत से उप-व्यंजक दबे-ढके मिलेंगे। शुक्ल अपने व्यंजकों में बेहद सेलेक्टिव हैं और सतत, सुसंगत, सतर्कित है। वे किसी -न-किसी व्यंजक में अपने मूलभाव को, अपने सत्ता-विमर्श को स्पष्ट कर देते हैं। यह काम कहीं वे बेहद खुलकर करते हैं तो कहीं यह मानकर कि पाठकर्ता उनकी व्यंजना-व्यवस्था को छोड़ेगा नहीं। रामचन्द्र शुक्ल के विमर्श का 'जादू' यही है कि साहित्यिक आलोचना के जरिए वह एक सत्ता विमर्श पैदा करते हैं जिसमें सभ्यता के प्रश्न अचानक साहित्यिक और अचानक सामाजिक-धार्मिक बन उठते हैं और वे ही अचानक निजी नैतिक सीख पर उतर आते हैं। लोक के अभ्युदय के लिए ऐसा ही 'गुरु' चाहिए। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गुरु और बाबा इसीलिए हैं कि वे तुलसी की तरह पाठकर्ता को जीने के तमाम तरीके सुझाते चलते हैं। उनका साहित्य, जीने की, अभ्युदय की एक सम्पूर्ण तरकीब और योजना है। वह सिर्फ इतिहास-लेखन नहीं, 'इतिहास के विमर्श का निर्माण' है। वह सिर्फ कविता व्याख्या नहीं है। कविता की व्याख्या मानेंगे तो वे व्यंजक अपनी सत्ता को छिपा लेंगे जो वे एक 'जाति के अभ्युदय के लिए' लाते है और बार-बार उनकी व्याख्या करते हैं। उनका सातत्य उनकी सुसंगति और तर्क-सामर्थ्य एक क्षण भी कमजोर नहीं होता। साहित्य को जाति और जाति में भी हरेक के लिए जीने की कला में बदलने का भरोसा वह विमर्श बनाता है जिससे बाहर निकलना 'जाति-बाहर' होना है। यदि आज रामचन्द्र शुक्ल होते तो वे किसी 'उग्र-हिन्दू—जैसे' हो सकते थे। इन हिन्दू —दिनों में वे आश्वस्त करते हैं। हैरत की बात यह नहीं है कि रामचन्द्र शुक्ल के इस हिन्द-पाठ को रामविलास, नामवर और मलयज छिपा जाते हैं कि उनकी आलोचना पद्धति में इस बात की खबर तक नहीं मिली! क्यों?

ऐसा क्यों हुआ? ऐसा क्यों होता है कि शुक्ल जी के विमर्श के मुख्य व्यंजक चीख-चीखकर कहते हैं कि उनका बुनियादी सन्दर्भ हिन्दू-जाति का अभ्युदय है और वे तथा और बहुत से परवर्ती पाठकर्ता इस आवाज़ को दबा जाते हैं? यह जाति के रक्षात्मक विमर्श की आदत है। अपनी जाति को खोलना रक्षात्मक विमर्श में अपनी सत्ता को कमजोर करना है। यह सेक्यूलर विमर्श की भीतरी समस्या है। शुक्ल के उग्र भाव को गाँधी के वैष्णव-भाव से मिलाये तो वे तिलक के नजदीक बैठेंगे/और इन दिनों शिवसेना के/मलयज इस की खबर हल्के से देते हैं और बिना इससे उलझे देते हैं। बस।

मैं जानता हूँ कि ऐसा लिखकर मैं सही होने पर शंका कर रहा हूँ। मुझे 'तजिए ताहि कोटि बैरी सम' का शिकार होना पड़ सकता है। मैं बेहद छोटा आदमी इतने बड़े, परम्परापुष्ट और स्वीकृत सत्य के सही होने पर शंका कर रहा हूँ। लेकिन क्या करूँ। बिना शंका के शुक्ल के विमर्श के विमर्श में घुस पाना सम्भव ही नहीं है।

अच्छा बताइए कि साहित्य में धर्म का, उसमें भी हिन्दू धर्म का ऐसा जबर्दस्त प्रवेश कराने के बाद भी साहित्य की रामचन्द्र शुक्लीय व्याख्या 'साम्प्रदायिक' क्यों नहीं कही गयी या कही जाती है जबकि राजनीति में धर्म की वैसी उपस्थिति को 'साम्प्रदायिक' कहा जाता है? ऐसा क्यों और किस तरह सम्भव है कि हम राजनीति को धर्म से मुक्त करने की, सेक्यूलर करने की माँग करें और साहित्य में धर्म के ऐसे 'धार्मिक-मिक्स' को 'साहित्यिक मानक' कहें? यह कौन-सा प्रगतिशील विमर्श है? कौन-सी आलोचना है? क्या यह 'निहित-हिन्दू-मन' का 'अ-निहित-हिन्दू-मन' को बचा ले जाना नहीं है?

बस एक कसरती जवाब आएगा : रामचन्द्र शुक्ल के धर्मादि सम्बन्धी व्यंजक वे अर्थ नहीं रखते जो आज हैं कि वे लोक का अर्थ रखते हैं और लोक में तो सब आ जाते हैं जो और फिर भी सन्तोष नहीं तो कहेंगे कि इस लेखक के इस विखंडन में पश्चिमवाद, साम्राज्यवादी षड्यंत्र है जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने 'व्यक्तिवैचित्रयवाद' वाले अपने लेख में बहुत पहले फटकार दिया था... लेकिन इतना सब कहने के बाद बात फिर भी रह जाएगी कि क्या रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दू पाठ किया जा सकता है और क्या सिर्फ हिन्दू पाठ किया जा सकता है? क्या रामचन्द्र शुक्ल हमारे मन के उन्मन-से 'हिन्दू' को जगाते हैं, उसे बनाते हैं? क्या उनके व्यंजक हिन्दुत्व की सांस्कृतिक स्मृतियों को जगाते हैं और क्या ऐसा करके वे एक हिन्दू समीक्षा और विमर्श की नींव रख रहे हैं? रामचन्द्र शुक्ल को 'नीरन्ध्र' मानने के पीछे कहीं उपलब्ध 'उन्मना-हिन्दू-विमर्श' और उनका 'प्रकट विमर्श' कहीं पूरक तो नहीं बन रहा है? विखंडन की असल रणनीति इस पूरकता को खोलने और उन 'गाँठों को, उन 'अन्धताओं' को देखने में है जिन्हें ऐसी पूरकता 'बनाती' है। नहीं इसे रामचन्द्र शुक्ल को 'हिन्दू बनाने का प्रयास' मानने की बेवकूफी नहीं कही जा सकती, क्योंकि शुक्ल हिन्दू जाति में ही अर्थ पाते हैं, जिस पर वे शर्मिन्दा कतई नहीं हैं जबकि रामविलास, नामवर, मलयज शर्मिन्दा हैं। वे वैसा होना छिपा जाते हैं। क्या सेक्यूलर की खातिर टैक्टिकली या स्वयं 'निहित हिन्दू' होने की खातिर?

एक बार फिर श्रद्धा-भक्ति का 'पाठ' करें और भक्ति के उन व्यंजकों को देखें जो शुक्ल जी ने जुटाए हैं। ये लेख के अन्तिम चार-पाँच पैरा में मिलते हैं/देखिए चिन्तामणि भाग 1993, संस्करण, पृष्ठ 8-29/जहाँ रामचन्द्र शुक्ल एक आलोचक से ज्यादा एक विमर्शकार के रूप में सामने आते हैं। वे रामलीला की बात करते हैं, जो 'सामीप्य सिद्धि का विधान' करती है यानी इष्ट के पास ले जाती है। यह भक्ति का समाजशास्त्र है जिसमें मनुष्य को संगठित करने और समाज को बदलने की ताकत है। समाजशास्त्र है जिसमें मनुष्य को संगठित करने और समाज को बदलने की ताकत है। उत्तर-आधुनिक विमर्श में इसे रामभक्ति के 'मास कल्चर' में बदलने का उद्यम कहा जा सकता है जो मध्यकाल में तुलसी ने शुरू किया जिसे बाद में

शुक्ल जी ने थियराइज किया/शुक्ल जी 'सामीप्य लाभ' को इसी अर्थ में देखते हैं। लेकिन उदाहरण में वे एक पद रसखान का उद्धधृत करते हैं कि 'मानुष हों तो वहीं रसखान।'... इससे अच्छे उदाहरण राम कथा से ही मिल जाते। रसखान का यह उदाहरण कमजोर है, क्योंकि यह इष्ट के सामीप्य की बात तो करता है लेकिन 'समाज संघटन' की बात नहीं करता। कारण, शुक्ल जी को जल्दी ही हिन्दू जाति और भक्ति की महती भूमिका की अन्तिम दमदार व्याख्या करनी है। रसखान उसकी व्याप्ति का अमोघ तर्क और तथ्य दोनों है। उद्धारण एकदम रणनीतिक है। आगे भक्ति का 'मासकल्चर' वाला विमर्श बनता है :

'रामलीला द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्य देव की आदर्श मानवलीला का माधुर्य देखते हैं। जिस समय दूर-दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा मुकुटधारी विजयी रामलक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं दूसरी ओर तीरों से विंधे रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं उस समय वे धर्म के सौन्दर्य पर लुब्ध और धर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। यहाँ 'धर्म की घोरता' पर ध्यान दें। यह कुछ नया तत्त्व है। धर्म की घोरता पर क्षुब्ध होना नवधाभक्ति में रहने वाले भक्त से आगे निकलकर 'एक्टिविज्म' में जाना है। सामीप्य लाभ की शिक्षा है सक्रिय होना। धर्म के क्षोभ का प्रदर्शन करना।

उक्तोद्धृत से ऐन आगे शुक्ल जी कहते हैं : 'इसी प्रकार जब कृष्ण लीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्मरक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, हमारी जीवन धारा की अभिलाषा दूनी-चौगुनी हो जाती है।' शुक्ल जी कितने सुसंगत विमर्शकार हैं कि मध्यकाल में आयी 'निराशा' वाला व्यंजक उनके साथ सर्वत्र आता है और वही इतिहास बनाता है और एजेंडा भी वही बनाता है। यहाँ 'जीवन धारणा की अभिलाषा' का पद देखें तो निराशा के ठीक बरक्स आता है। 'जीवन धारणा' में प्रवृत्त होते हैं रामलीला देखकर। एक दम सुसंगत कहीं झोल नहीं। यही शुक्लजी का विमर्श एक 'कैनन' या कहें 'सूक्त' बनता है क्योंकि वह बार-बार दुहराकर भी विचारों के व्यंजकों की एक भी व्यवस्था को ठोस करता है।

जीवन धारणा को आसान बनाना। सामीप्य लाभ की देन है। किसके लिए?

हिन्दू जाति के लिए : 'हिन्दू जाति इन्ही के बल से इनकी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाती चली आई है—इन्हीं की अद्‌भुत आकर्षण शक्ति से वह इधर-उधर ढलने न पायी है। राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाए छोड़ना हिन्दू जाति के लिए सहज नहीं था, क्योंकि ये अवतार अलग टीले पर खड़े होकर उपदेश देने वाले नहीं थे, बल्कि मानव जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक-एक अंग की मनोहरता दिखाने वाले थे। मंगल के अवसरों पर उनके गीत गाए जाते हैं।' यहाँ देखें : श्रद्धा जब भक्ति में बदलती है तो सामीप्य लाभ होता है। सामीप्य लाभ होता है तो जीवन की धारणा की इच्छा विपरीत स्थितियों में भी बलवती होती है और कर्म सौन्दर्य की ओर प्रवृत्त होता है

'श्रद्धा-भक्ति' के अन्तिम पैरा में वे मानो अब सब कुछ निचोड़कर कह देना चाहते हैं कि हिन्दू जाति का एजेंडा क्या है?

'संसार में तटस्थ रहकर शान्ति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश देने वालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुस कर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक विभूति जगाने वालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं। कर्म-सौंदर्य के योग के उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप-ही-आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है' :

शुक्लजी के यहाँ हम विरुद्धधों के जिस 'सामंजस्य' की बात देखते हैं वह सब यहीं से आता है। यही उनका लोक है यही उनका कर्म है, यही धर्मभूमि है।

साहित्य के सेक्यूलर विमर्शों में खासकर 'मार्क्सवादी' विमर्शों में और उनमें भी शुक्ल-सम्बन्धी विमर्शों में धर्म की इस शुक्लीय प्रतीति का इतनी उपेक्षा या कहें कि अकथनीयता क्यों है? धर्म को राजनीति से विलग करना सेक्यूलर भाव है लेकिन वही भाव साहित्य से इस धर्म को अलग करने के काम से बेखबर है? क्यों? क्या इसलिए कि इसमें एक हिन्दू सो रहा होता है? क्या यह हिन्दू विमर्श के 'इतने सहज' होने को दर्शाता है कि वह हमें अलगाने योग्य नहीं लगता? रामविलास जी की पुस्तक में इस बात की खबर नहीं मिलेगी। न मलयज को पढ़ेंगे तो न मिलेगी। नामवर की दो भूमिकाएँ पढ़ेगे। (मलयज के 'रामचन्द्र शुक्ल' की भूमिका और चिन्तामणि भाग 3 की भूमिका) तो भी ऐसा कुछ नहीं मिलेगा।

क्या यह मार्क्सवाद का शुक्ल जी के विमर्श द्वारा भक्षण है या इन सबके 'निहित-हिन्दू' द्वारा यह मानकर चलना है कि निहित-हिन्दू होना सेक्यूलर होना है और राजनीति से तो धर्म को अलगाना है, लेकिन साहित्य में नहीं अलगाना है? एक सवाल यह भी उठता है कि क्या शुक्लजी के 'केननों' में जाने के बाद ऐसा कुछ बचता है जो इस अलगाव या साहित्य के सेक्यूलराइजेशन के प्रश्नों को सक्रिय करे और शुक्ल जी को नये ढंग से खोले?

नवजागरण में धर्म से 'निरपेक्षता' का तत्त्व कितना सक्रिय होना चाहिए इस प्रश्न पर रामविलास जी शुक्ल जी के सन्दर्भ में खामोश हैं। वे जितने उत्तेजित ढंग से रामचन्द्र शुक्ल की छोटे जमींदारों के प्रति कथित ममता को लेकर वीर भारत तलवार पर टूटते हैं। (देखिए : शुक्ल जी का पुनर्मूल्यांकन और वामपंथी अवसरवाद, नामक लेख, रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, 210-305) और साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की बातों में जाते हैं वे बातें शुक्ल जी के इस हिन्दू पाठ को छोड़ जाती हैं? क्यों? क्या इसलिए कि रामचन्द्र शुक्ल का लोकमंगल हमें 'सबका मंगल' लगता है। क्या इस बस में 'हाशिए' नहीं दब रहे?

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

आइए 'श्रद्धा-भक्ति' के दो-तीन पैराग्राफों को और पढ़ें और देखें कि रामचन्द्र शुक्ल जब 'वे' कहते हैं तो उनका इशारा कहाँ होता है? और इस 'अन्य' के निर्माण में वे कैसे हिन्दू का निर्माण करते हैं?

'जो कुछ हम करते हैं—खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना, प्रेम करना, विनोद करना उन सब में सौन्दर्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे उन्हीं की ओर ढल सकते हैं। वे हमें दूर से रास्ता दिखलाने वाले नहीं हैं आप रास्ते में चलकर हमें अपने पीछे लगाने वाले क्या खींचने वाले हैं। जो उसके स्वरूप पर मोहित न हो वह निस्सन्देह जड़ है :

सुनि सीतापति शील सुभाउ

मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ!' (वही, 27)

जो राम शीलवान हैं सबके लिए सामीप्य भाव की व्यवस्था करते हैं उन्हें देखकर किसी के मन में प्रसन्नता न हुई वह आदमी जड़ है। यह है राम पर मुग्ध न हो पाने वाले 'अन्य' का निर्माण और नियंत्रण। जो खुश नहीं हुआ वह 'अन्य' हुआ। जो खुश नहीं वह जड़ हुआ। शुक्ल जी तुलसी की रामभक्ति में कहीं-कहीं स्पर्धा पैदा करते हैं। ऊँच-नीच पैदा करते हैं। जबकि तुलसी के मानस के राम के व्यंजक धार्मिक-स्पर्धा से परे रहते हैं। विनय पत्रिका में तथा कुछ और छन्दों में वे भी अपनी भक्ति का एक स्पर्धा में लाते हैं लेकिन तुलसी की भक्ति में भक्त के पास स्पर्धा की ऊँच-नीच करने की ज्यादा जगह नहीं है। मानस में तुलसी के राम स्पर्धा और ईर्ष्या, ऊँच-नीच के भाव से परे हैं लेकिन तुलसी भी जब उन्हें अपने 'अन्य' राम वैदेही जिसके प्रिय नहीं हैं इत्यादि... के सामने खड़ा करते हैं, राम के शील की तुलसीकृत व्याख्या में शुक्ल जी की व्याख्या अन्तर्भुक्त है : जिनके मन में मोद नही वह नराधाम है।

'तुलसी का भक्ति-मार्ग' और 'मानस की धर्म-भूमि' —शुक्ल जी के ये दो लघु निबन्ध हमें इस बात को समझने में मदद करते हैं कि तुलसी के राम 'विभक्त राम' हैं। एक वे राम जो माया-मोह-पत्थर से परे हैं शील की खान हैं। इस स्वरूप के निर्माण के बाद तुलसी इस राम के स्वरूप को एक 'आइकन' बनाकर अन्य से कहते हैं कि यदि ऐसे राम को देखकर भी मन मुदित न हुआ तो धिक्कार है। शुक्ल जी तुलसी के इस राम की संरचना को अधिक स्पर्धात्मक बनाते हैं जबकि तुलसीकृत मानस में राम के व्यापक व्यंजक और रामभक्ति के व्यापक व्यंजक ऐसा करने में संकोच करते हैं। तुलसी के दो राम है : एक मानस के हैं और दूसरे विनय पत्रिका के हैं। विनय पत्रिका में स्पर्धा का अंश मिलता है। शुक्ल जी इस विभक्ति को बुरी तरह 'मिक्स' करके चलते हैं। यह शुक्ल जी की तुलसी के इस राम की विभक्ति के व्यंजकों को विखंडित करें तो यह 'अन्धता' खुलती है और रामचन्द्र शुक्ल द्वारा बनाए गए तुलसी के 'भक्तिमार्ग' का अन्तर्विरोध भी खुल जाता है। वे तुलसी के शीलवान विनत राम को एक सक्रिय राम में बदलते हैं। 'श्रद्धा-भक्ति' और उक्त दोनों निबन्ध इसी तरफ जाते हैं। यह महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू जाति को जो मार्ग चाहिए वह यहीं से होकर जाता है। तुलसी में यह हिन्दू 'भक्त' है जिसे अपने भगवान से ज्यादा मतलब है जिसे स्पर्धा के लिए फुरसत नहीं है बल्कि स्पर्धा सच्ची भक्ति की दुश्मन ही है लेकिन शुक्ल में यह स्पर्धी-हिन्दू बहुत साफ है। यह भक्त नया है। यह तुलसी से ज्यादा रामचन्द्र शुक्ल का 'पाठ' है।

मगर यह हिन्दू-पाठ अपनी ही गाँठ में फँसता है। एक ओर वे राम को मर्यादा पुरुषोत्तम बनाते हैं जिनमें मत्सर का लेश नहीं है, दूसरी ओर इसके भक्त के रूप को स्पर्धा में ले आते हैं कि 'जाके प्रिय न राम वैदेही' या 'सुनि सीतापति शील सुभाउ'। जाके प्रिय न राम वैदेही में भक्तों को सजा दी गयी है : प्रहलाद का पिता उसे छोड़ देता है। विभीषण को उसका भाई त्याग देता है। गोपियों को उनके पति त्याग देते है। यहाँ भक्त नहीं त्यागता। अपने 'अन्य' को 'अन्य' ही सताता है। शुक्ल जी के यहाँ लगता है मानो भक्त ने शत्रु-त्याग का चयन किया हो। इस स्पर्धा को शुक्ल जी इस तरह एक तराश देते हैं।

तुलसी के व्यंजक राम हैं। रामचन्द्र शुक्ल के व्यंजक तुलसी और उनके राम हैं। रामविलास शर्मा के व्यंजक रामचन्द्र शुक्ल हैं। मलयज के भी वही हैं और नामवर के भी वही हैं और जनाब इस महिमाक्रम में कोई गहन मतभेद नहीं हैं ऐसे आइकन हैं रामचन्द्र शुक्ल के उनमें छेद निकालना अपराध है। राम की व्यंजनाएँ मानो सीधे आगे तक बँट जाती है। यह 'कैननाइजेशन' है हिन्दी का पहला सम्पूर्ण 'हिन्दू कैननाइजेशन'। यह कैनन 'डंटन' से लेता है 'रिचर्ड्स' से लेता है तो जब तक यह सब धर्म/ वही 'लोकमंगल' बराबर 'सामीप्यलाभ' बराबर 'हिन्दू जाति' और धर्म के राम का सामीप्य लाभ को पुष्ट करता है ठीक है उसे अपुष्ट करता है तो त्याज्य है। 'जाके प्रिय न राम वैदेही' एक अमोघ अस्त्र है। तुलसी की मानस के परमेश्वर राम ऐसा कहीं नहीं कहते, लेकिन उनके भक्त ऐसा कहते हैं। तुलसी ऐसा कहते हैं, शुक्ल ऐसा कहते हैं। रामविलास ऐसा कहते हैं, नामवर और मलयज ऐसा कहते हैं।

'तुलसी के भक्ति मार्ग' में रामभक्ति एक लोकप्रिय संस्कृति के रूप में लायी गयी है और इस बात की जैसी विशद व्याख्या रामचन्द्र शुक्ल करते हैं कोई और नहीं कर सकता है। राम के स्वरूप की तुलसी की कल्पना में रामभक्ति की 'मास कल्चर' के निर्माण के तमाम तत्त्व हैं। सभी के भावों का आलम्बन बनने की अन्तर्निहित 'क्षमता वाला होना' लोक में उपलब्ध रहना और सबके लिए न्यूनतम उपलब्ध रहना। लीला का समाजशास्त्र है यह। तुलसी रामभक्ति को मास कल्चर में बदलते हैं। वे एक बड़ा सुधार करते हैं भक्ति-पद्धति में। वे 'नामस्मरण मात्र' को काफी कहते हैं। रामचन्द्र शुक्ल नवधाभक्ति का समाजशास्त्र जब बताते हैं तो अन्ततः 'सामीप्य

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

लाभ से समाज संघटना' पर जोर देते हैं। तुलसी 'समाज संघटना' पर जोर नहीं देते बल्कि नामस्मरण और उल्टा नाम जपने तक को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। राम के शील के अनुरूप ही है यह कि वे न्यूनतम में प्रसन्न हो जाते है। राक्षस भी यदि उनके बाण या उनके वानरादि के हाथों मारे जाते हैं तो वे उन्हें 'अपने धाम' भेजते हैं। इतना आसान। कर्मकाण्ड से इतना दूर कर देते हैं तुलसी राम भक्ति को। 'कलियुग केवल नाम अधारा'।

रामचन्द्र शुक्ल 'धर्म भूमि' में दो उदाहरण देते हैं : भरत और विभीषण के जिन्होंने राम के लिए त्याग किया। प्रश्न यह है कि मानस की धर्मभूमि क्या है? क्या वह 'शर्तरहित' है या शर्तसहित है? तुलसी के यहाँ राम का उल्टा ना लेने वाला भी परम पद का अधिकारी है। शुक्ल जी मानस की धर्म भूमि को स्पर्धात्मक बनाते हैं। भरत माँ को छोड़ देते हैं राम के लिए। विभीषण बन्धु को छोड़ देते हैं राम के लिए। राम के लिए क्या त्यागा जाए क्या नहीं ऐसा भाव मानस कम देती है, क्योंकि वहाँ तो उन्हें भी परम पद की गारण्टी दी जाती है जो शत्रु हैं रावण पक्ष के हैं और अतिचारी हैं। एक छोटी-सी शर्त भर है कि बस एक बार नाम-भर ले ले उतना काफी है राम के सैनिकों के हाथों मुक्ति पा जाए तो भी परम पद मिलेगा। भगवान अपने धाम भेजेंगे। उसे रामचन्द्र शुक्ल जैसा लेखक जब मानस की धर्मभूमि लिखता है तो प्रसंग मानस से लेता है भरत और विभीषण के। लेकिन पुष्टि के लिए उदाहरण अन्यत्र से लेता है! यह शुक्ल के विमर्श का जबर्दस्त छल है कि हम उनके इस हस्तलाघव को नहीं देख पाते। मानस के साथ तुलसी के मानसेतर छन्दों और पदों के साथ इंटर-टैक्स्चुअलिटी का यह ढब इसीलिए है कि मानस की धर्मभूमि के केन्द्र राम कोई शर्त्त लगाते ही नहीं जबकि शुक्ल जी उससे एक कोड बनाना चाहते हैं। शुक्ल को कोड देना है तो मिक्सिंग करते हैं और हम मुग्ध होते रहते हैं।

ऐसा नहीं कि शुक्ल जी नहीं जानते कि तुलसी का भक्ति मार्ग क्या है? वे कहते हैं 'भक्ति में लेन-देन को भाव नहीं रह जाता।' (चिन्तामणि भाग 1, पृष्ठ 140) लेकिन 'मानस की धर्म भूमि' तक आते-आते वे 'लेन-देन' को ही एक शर्त बना देते हैं कि जब तक आप प्यार नहीं करेंगे राम से, खैर नहीं आपकी :

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण बन्धु भरत महतारी...

तुलसी से ज्यादा यहाँ रामचन्द्र शुक्ल एक कोड दे रहे हैं क्योंकि 'जाति' के उद्धार का एजेंडा उनका अपना है। भक्ति का नितान्त निजी मार्ग जिसे तुलसी ने नितान्त लोकप्रिय रूप दिया कि नाम मात्र काफी है और इस तरह राम भक्ति को सबके लिए फ्री कर दिया। रामचन्द्र शुक्ल उसे बाँधते हैं। वे भक्ति का टोटलाइजेशन करते हैं तुलसी उसका सिर्फ राम-केन्द्रण करते हैं। शुक्ल जी छोटे धर्म को बड़े के लिए 'त्याज्य' कहते हैं/145/यही नहीं भक्ति की लेन-देन रहित निजता कब निजी धर्म की जगह, 'लोकधर्म के पालन'/145/ में बाँध दी जाती है यह अलग से नजर नहीं आता। भक्ति को धर्म के साथ मिक्स करने की इस कला में शुक्ल जी से आज कोई स्पर्धा कर सकता है तो कथावाचक आसाराम बापू ही कर सकते हैं, तुलसी नहीं कर सकते। रामचन्द्र शुक्ल एक हिन्दू कार्यकर्ता की तरह यह सब करते हैं और मजा यह है कि रामविलास से लेकर मलयज तक शुक्ल जी की इस विचार संहिता को नहीं देख पाते, खोलने की बात तो दूर की हुई।

आइए फिर 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध के अन्तिम हिस्सों की ओर लौटे और शुक्ल जी के लोकधर्म के व्यंजकों को टटोलें क्योंकि, मलयज लोक को बहुत महत्त्व देते हैं और रामविलास जी नामवर जी भी देते हैं। देखें तो कि इस लोक में कैसा लोक है?

भक्ति दरअसल प्रवृत्तिमूलक हैं 'जो संसार या मनुष्यत्व का सर्वथा त्याग न कर दे उसके लिए शुद्ध सात्त्विक जीवन का यही मार्ग है।' (वही, 28) इतना कहकर शुक्ल जी जनता के लिए व्यापक लोक मंगल भावना के अधिष्ठान की ओर लौटते हैं कि 'जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्रधर्म है' (वही 29) कुछ पहले का लोकधर्म यहाँ आकर क्षात्रधर्म बन चलता है। व्यंजकों की ऐसी मिक्सिंग है शुक्ल जी में कि उन्हें अलग करना कई बार कठिन जान पड़ता है। पहली मिक्सिंग अभी हमने 'भक्ति मार्ग और धर्मभूमि में देखी, मानस और विनय पत्रिका में देखी। अब हम लोकधर्म और क्षात्रधर्म की मिक्सिंग देखें : 'जनता के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्रधर्म है। क्षात्रधर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं... मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।' (वही, 29)

अगले पैरा में लोक धर्म साफ क्षात्रधर्म बन जाता है : 'वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक रक्षा का मार्ग होगा—वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा वही सर्वांगपूर्ण लोक धर्म का मार्ग होगा। क्षात्रधर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार युग उसे हटान सकेगा।'(वही, 29)

क्षात्रधर्म के प्रति यह अनुराग अकारण नहीं। अनुराग के गहरे कारण हैं। इनमें से एक है लोक रक्षा का चलता हुआ धर्म' क्षात्रधर्म ही है। क्षात्र यानी क्षत्रिय धर्म। यहाँ से वर्णाश्रम धर्म का मार्ग खुलता है : शुक्ल जी के 'लोक' का निर्माण इसी वर्ण-व्यवस्था से होता है।

यह व्यवस्था तुलसी की तरह है दबी हुई कभी-कभी चमकती हुई है। तुलसी

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

जब भी अपने 'रामराज' की बात करते हैं तो वर्णाश्रम धर्म की बात करते हैं। वे ब्राह्मण और गऊ और सन्त की बात करते हैं। अन्यथा वह कथा में सोया रहता है। शुक्ल जी के लेख के अन्त में क्षात्रधर्म आता है। अन्त में उनके यहाँ ऐसे प्रसंगों की टोन आदेशात्मक हो जाती है मानो एजेंडे पर आ गए हों। श्रद्धा-भक्ति के अलावा इस क्षात्रधर्म के प्रति शुक्ल जी के लोक का इतना मोह है कि वे अलग से भी एक टिप्पणी लिखते हैं क्षात्रधर्म के बारे में। (देखिए चिन्तामणि भाग-3)

'क्षात्रधर्म का सौन्दर्य' नामक यह निबन्ध अनालोचनात्मक ढंग से ही सन्दर्भित है। चिन्तामणि भाग-3 की भूमिका में (1983) मलयज का तो ध्यान ही नहीं जाता कि यह भी कोई निबन्ध है। शायद इसलिए कि चिन्तामणि उनके बाद छपी है लेकिन नामवर इस पर कोई आलोचनात्मक टिप्पणी नहीं करते। रामविलास जी की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना/1987/चौथा संस्करण में नये संस्करण तक में इस पर कोई टिप्पणी नहीं है जबकि वीर भारत तलवार के निबन्ध पर लम्बी टिप्पणी है और चिन्तामणि भाग-3 आ चुकी है। क्षात्रधर्म पर शुक्ल जी जितना व्याकुल होकर लिखते हैं उनके आलोचक उतने ही इससे अनभिज्ञ दिखते हैं। क्या यह शुक्ल जी के बाद की आलोचना का अपना सेंसर है जो शुक्ल जी की आलोचना के एक मानक 'वर्णवाद' को अनदेखा करता है? या कि हिन्दी में यह बाद तक चला आया है? या कहें मार्क्सवाद के नाम पर भी वर्णवाद सुरक्षित रखा गया है उसे अनक्रिटिकली देखा गया है? यह आलोचना में पुराने ब्राह्मनीकल कैनन का दण्ड है।

देखें तो क्षात्रधर्म का सौन्दर्य क्या है और शुक्ल जी के लोकधर्म सम्बन्धी तमाम व्यंजकों के लिए उसकी कैसी भूमिका है?

'जिस प्रकार लोक-मर्यादा का निरूपण ब्राह्मण धर्म है उसी प्रकार लोक-मर्यादा की रक्षा क्षात्रधर्म है।' (चिन्तामणि, भाग-3, 186/)

इस क्षात्रधर्म में अहिंसा के प्रति गहरी घृणा है। अहिंसा में सौन्दर्य नहीं जो कर्मक्षेत्र में होता है। संसार से तटस्थ रहकर शान्ति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश देने वालों का उतना अधिक महत्त्व हमारे हिन्दू धर्म में नहीं है जितना संसार में घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक सौन्दर्य की ज्योति जगाने वालों का है (चिन्तामणि भाग-3, 187)

शुक्ल जी का सौंदर्य और सात्त्विक क्रोध मूलतः इसी क्षात्रधर्म के पालन में बनता है। 'सात्त्विक' पद शुक्ल जी का प्रिय कोड-पद है लोक मंगल से ज्यादा।

वह क्षात्रधर्म किस युग के बरक्स है? कोरे उपदेशकों के और व्यापार युग के बरक्स है। 'इस व्यापार युग में इस वणिक प्रधान युग में क्षात्रधर्म की चर्चा करना शायद गयी बात का रोना समझा जाए, पर आधुनिक व्यापार की अन्याय रक्षा भी शस्त्रों द्वारा ही की जाती है क्षात्र बल का उपयोग कहीं नहीं गया है केवल धर्म के साथ उसका असहयोग हो गया है। आजकल मनुष्य की सारी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई है सबकी टकटकी टके की ओर लगी हुई है... राजधर्म, आचार्य, धर्मवीर, धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गये। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से उसके प्रभाव को इतना अधिक विस्तृत कर देने से ब्राह्मण और क्षात्रधर्म का लोप हो गया—केवल वणिक धर्म रह गया व्यापार नीति-राजनीति का प्रधान अंग हो गई'। (वही, 187)

पूँजीवाद को लेकर शुक्ल जी वैसा ही सोच रहे हैं जैसा तत्कालीन रूढ़िधर्मी सोचा करते होंगे। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया यहाँ एक षड्यंत्र ही है, क्योंकि वह ब्राह्मण और क्षात्रधर्म का लोप करती है। लोकधर्म यानी क्षात्रधर्म और टकाधर्म में बैर है। क्षात्रधर्म हो तो सात्त्विक सौंदर्य हो, साहित्य हो, मार्मिक प्रसंग हों, विरुद्धों का सामंजस्य हो, लोक मंगल हो। शुक्ल में एक अतीत जीवित रहता है और लौटने के लिए व्याकुल होता है। शुक्ल जी के कोड और मानक यहीं से आते हैं। उनके क्षात्रधर्म की कंडीशन ही है उस क्षात्रधर्म को बनाए रखने वाली कंडीशंस का बने रहना। शुक्ल जी का क्रिटीक यहीं से आरम्भ होता है। उनके कर्मवीर उनके धर्मवीर इत्यादि सब यहीं बनते-बिगड़ते हैं। पश्चिम से, पूँजी से घृणा का ऐसा सुसंगत तत्त्व है जो कहता है कि यह सब तो कलयुग है। रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना को तुलसी की कलिकाल की आलोचना से मिलाइए तो लगेगा कि शुक्ल जी के कई कोड तुलसी ने निर्मित किए हैं : शुक्लीय तुलसी ने क्षात्रधर्म की जगह टके का आ जाना एक बड़ी रद्दोबदल है। शुक्ल जी की प्रतिक्रियावादी प्रतिक्रिया है वैसी ही आज के पूँजीवाद को लेकर आज के कथित मार्क्सवादियों की है। जैसी लेट-कैपीटलिज्म को लेकर उत्तर-आधुनिकता को लेकर की जा रही इन दिनों के प्रगतिशीलों की प्रतिक्रियाएँ किसी रूढ़िवादी जैसी ही है। क्या ही परम्परा है कि नये पूँजीवाद की मलाई खा रहे हैं और 'धिक है' कह रहे हैं! दरअसल, ऐसी आलोचना एक पराजित विमर्श है। यह हारते हुए शुक्लीय विमर्श का कोना है। क्षात्रधर्म के हारने पर हम शुक्लजी व्याकुलता खूब ही पढ़ सकते हैं। यह उनके कोड के निर्माण में उनके संहिता के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने में निर्णायक तत्व है। इसे अपवाद या सिर्फ एक निबन्ध कहकर नहीं टाला जा सकता। क्षात्रधर्म की बहाली का यह भाव उनके निबन्धों में अनेकशः बिखरा है। कहना चाहिए यही उनके विचारों का स्थायी भाव है। यह 'करुणा' या 'उत्साह' नामक निबन्ध से लेकर 'लोभ और प्रीति' जैसे निबन्धों तक में मिलेगा। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशीलता के नाम पर उग्रतर प्रतिक्रिया का तत्त्व आरक्षित रह आया है तो उसमें शुक्ल जी के रूढ़िवादी हिन्दू-पाठ का खासा योगदान माना जाना चाहिए। नये युग और पूँजी को लेकर प्रतिक्रिया का रूढ़िवादी भाव मार्क्सवाद के नाम पर रामविलास जी और नामवर दोनों में समान भाव में मिलता है। यहाँ तक कि वे शुक्ल जी की ऐसी प्रतिक्रिया की आलोचना तक नहीं कर पाते बल्कि जिस तरह से शुक्ल जी सोचते हैं उनके यहाँ भी वैसी ही सोच मिलती है। बाद

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

के दिनों में यदि हिन्दी में ब्राह्मणवाद और हिन्दू तत्त्ववाद मजबूत विमर्श बनकर उभरता है तो उसमें इस अनालोचनात्मकता का भी योगदान कहा जाना चाहिए। 'व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग बन गई'—इस वाक्य में धर्म को राजनीति के अंग न रह पाने की व्यथा बहुत सारी आज की व्यथाओं से जुड़ती है।

मलयज ने व्यापार युग की आलोचना को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की तरह याद किया है। वे इसमें रैडिकल बात पढ़ते हैं, मगर इसके बाद 'क्षात्रधर्म फिर प्रतिष्ठित होगा'—शुक्ल जी यह दावेदारी छिपा दी जाती है। 'जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा, पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगी। दूर यह अवश्य होगा। पर जिस प्रकार और सब पागलपन होते हैं उसी प्रकार क्षात्रधर्म की संसार में फिर प्रतिष्ठा होगी। चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा' (वही, 181) कैसा रेडीकल वाक्य है मगर इतिहास को उलटकर चलने के लिए है।

रामचन्द्र शुक्ल एक धार्मिक अभियान चलाये हैं : 'आज संसार के बीच अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए जिस युद्ध में हम प्रवृत्त हैं उसमें विजय प्राप्त करने की कामना से हम मर्यादा पुरुषोत्तम की भू-भार हारिणी विजय का स्मरण करते हैं और कहते हैं— श्री रामचन्द्र की जय!' (वही 190)

नामवर ने भूमिका में इस लेख के सन्दर्भ को थोड़ा नरम करने की कोशिश की है तो स्वाभाविक है। मामला क्षात्रधर्म की बहाली है न। मलयज भी क्षात्रधर्म की बहाली के लिए मौन धारण कर लेते हैं। क्षात्रधर्म है न! रामचन्द्र शुक्ल ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के संयुक्त मोरचे के व्याख्याकार हैं। यह उनकी प्रमुख टैक्स्ट है। नामवर रामविलास मलयज सबकी टैस्ट।

तब क्या हिन्दी आलोचना चतुर्वर्ण की संहिता को मजबूत करने वाली आलोचना रही है? शुक्ल जी की धर्मभूमि की यह झाँकी लेने के बाद ऐसा कहा जा सकता है। शुक्ल जी इसके लिए शर्मिंदा नहीं हैं। जबकि बाद वाले शर्मिंदा लगते हैं। शुक्ल जी के कैननाइजेशन में इस वर्णवाद की बड़ी निर्णायक भूमिका है शुक्ल का सत्ता-विमर्श यहीं से सत्ता प्राप्त करता है और इसी सत्ता को बहाल करता है। इसकी आलोचना करना इससे बहस चलाना या इसका विखंडन करना सिर तुड़वाने के बराबर है। यहाँ तक कि 'रस मीमांसा' टाइप की अर्थ-शास्त्रीय किताब में आपको इस धर्म की अनुगूँजें मिलेंगी। शुक्ल जी एक धार्मिक विमर्शकार हैं। बहुत दूर तक वे एक प्रबल प्रवचनकर्ता है। पश्चिम से उनका झगड़ा इसीलिए हिन्दू विवेक से संचालित है जहाँ डंटन तो स्वीकार्य है क्योंकि वे शुक्ल जी वाली प्रोटेस्टेंट नीति के सहारे है, क्रोचे असह्य है क्योंकि वे क्षात्रधर्म को कोई मदद नहीं देते। परम व्यक्तिवाद समाज संघटना के शुक्लीय स्वप्न को चुनौती है। लेकिन हिन्दी आलोचना का परवर्ती विकास और कहें तो शुक्ल जी के वक्त भी विमर्श का दूसरा 'विकास मूलक' दिशा में ही रहा। छायावाद को रहस्यवाद बनाकर शुक्ल जी इसी लिए कूटते हैं क्योंकि रहस्यवाद बनाकर छायावाद को एक तर्कहीन विचार बनाने में आसानी है। शुक्ल जी के चतुर्वर्ण को थोड़ा तर्कसंगत बनाने का उपक्रम उसे हड़काने के लिए काफी है। वे छायावाद में निहित व्यक्तिवाद से गहरी घृणा करते हैं, क्योंकि वह व्यक्तिवाद क्षात्रधर्म को, लोक को मंगल को चुनौती है। क्षात्रधर्म समर्थित सौन्दर्यशास्त्र को चुनौती है।

यह इतिहास की विकासमूलक गति ही है जो शुक्ल जी को छोड़कर छायावाद, नयी कविता के रूप में आगे बढ़ती है और क्रोचे के व्यक्तिवैचित्र्यवाद की दिशा को प्रशस्त करती है। हिन्दी का विकास, हिन्दी रचना का विकास, शुक्ल जी से विपरीत दिशा में होता है और आज भी है जबकि आलोचना का विकास आज भी शुक्ल जी की मूँछों में अटका है इसीलिए कहा जाता है कि रचना और आलोचना में एक फाँक आज भी है। क्या यह फाँक निहित चतुर्वर्णवाद और आधुनिकता के बीच नहीं है? क्या यह फाँक शुक्ल जी के मानकों और जीवन के नये मानकों के बीच नहीं है? क्या यह फाँक उसी फाँक की देन नहीं है जो शुक्ल जी में थी? खेद की बात है कि शुक्ल जी के योगदान को किसी दैवी वरदान और असंदिग्ध विमर्श की तरह स्वीकार किया जाता है रामविलास से लेकर मलयज तक यहाँ एक हैं। क्या शुक्ल जी के बुनियादी मानकों पर सन्देह करके जीवित रहा जा सकता है? शुक्ल पर सन्देह करना तुलसी के कैनन को ललकारना है। कौन है जो ललकार सकता है? क्या यह डर हिन्दी विमर्श को खत्म कर रहा है?

मलयज के रामचन्द्र शुक्ल को पढ़ते हुए दो बातें साफ होती हैं। पहली कि यह एक मोनोग्राफ-सा है जिसमें परिचयात्मक स्पष्टता है और समग्रता का भाव है। दूसरे कि मलयज एक आलोचक के निजी जीवन और आलोचना सिद्धान्तों की आवाजाही पर ध्यान देकर बताना चाहते हैं कि शुक्ल जी कोई हृदयहीन आलोचक नहीं थे बल्कि सचमुच सहृदय आलोचक थे। उन्होंने अपने मानक यथा— प्रकृति-प्रेम, लोकमंगल भावना और रस आदि के पक्ष में क्रोचे आदि के विरुद्ध विमर्श उस समय के एक समाज-संगत विमर्श के रूप में विकसित किया। एक सुधार यहाँ भी है। मलयज अपने समय के विमर्शों के आलोक में शुक्ल जी को देखते हैं। 'लोक' को वे 'आम आदमी' के समकक्ष बताते हैं। यह शीतयुद्ध में चले प्रगतिशीलों और गैर-प्रगतिशीलों के बीच के विमर्श में प्वाइंट जीतने का परिणाम है। इसमें दोनों शुक्ल के वर्णवाद को भुला देते हैं। प्रगतिशीलों के लिए 'लोक' का मतलब 'समाज' हो जाता है मलयज के लिए 'आम-आदमी' और फिर दोनों एक जगह 'लोकमंगल' का कोरस गाते हैं। लोक का 'कोड पद' इस तरह शुक्ल जी की घोषित क्षात्रधर्मी इच्छाओं से 'सैनिटाइज' कर दिया जाता है।

लेकिन मलयज ने बहुत दूर तक शुक्ल जी के व्यंजकों को एक उपयोगी क्रम दिया है जिससे होकर हम शुक्लजी की कोड पद्धति का एक काम चलाऊ लोकप्रिय नक्शा बना सकते हैं। जरा देखें तो सही कि यह नक्शा कैसे बनता है?

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

मलयज कहते हैं कि शुक्ल जी के आदर्श और विश्वास भारतीय हैं। शुक्ल जी के स्वच्छन्द पथ को विद्वानों ने शक की निगाह से देखा.. नयों ने उन्हें अतीतकालीन, प्राचीन व्यवस्था का पोषक कहा (रामचन्द्र शुक्ल, 34) शुक्ल जी आदर्श और यथार्थ संस्कार और परिवेश एक-दूसरे पर निछावर नहीं करते। वे दोनों को एक साथ स्वायत्त देखना चाहते हैं (वही, 34) क्या यह सही है? क्या धर्म की दृष्टि में वैसी स्वायत्तता सम्भव है जैसी छूट देते हुए, मलयज मानते हैं? मलयज शुक्ल के अन्तर्विरोध को उनकी समग्रता की ललक का परिणाम मानते हैं। वे समग्रता के समाजशास्त्र को नहीं बताते। समग्रता कहाँ ले जा रही है? वर्णाश्रम धर्म की ओर और यथार्थ कहाँ ले जा रहा है? पश्चिम की ओर। वे वर्णाश्रम में जाते हैं। मलयज यह नहीं देखते। वे पश्चिम विरोध में जाते हैं इसे मलयज पश्चिम को पूरब की आँख से देखना चाहते हैं : मलयज कहते हैं जो कि बेहद भोले वाक्य-सा प्रकट होता है : 'पूरब को पश्चिम की आँख से देखा और पश्चिम को पूरब की आँख से देखा' (वही 34) इस तरह एक नायक खमीर पैदा किया। इस 'खमीर' में वर्णाश्रम धर्म बना सो उन्हें नजर नहीं आया। लोक-हृदय और लोकधर्म में लोक का सार क्षात्रधर्म है। यह मलयज को नहीं दिखता।

मलयज शुक्ल जी की समीक्षा को नया नाम देते हैं : प्रकृतवाद। यह शुक्ल जी के प्रकृति-प्रेम से आता है। प्रकृति ठेठ उनके 'देहातीपन' में है (वही 45) यह प्रकृति-प्रेम ही देशप्रेम है यही हृदय का विस्तार करता है। इसके जरिए ही रूप परिचय होता है/शुक्ल जी रूप-विधान का खूब जोर देते हैं तो उन्हें यार लोग रूपवाद नहीं कहते? वही हिन्दू मोह क्षात्रधर्म की मारक मार्मिकता का मोह। प्राकृत भाव, देहातीपन, प्रकृति से निकटता, कृत्रिमता को ठीक नहीं मानती सहजता, वह जो बनावटी अलंकार हो सहज न हो ठीक नहीं। सहजता का तत्त्व यहीं से आता है। कहना हुआ कि सहजता देहाती तत्त्व है जो बनावट यानी पश्चिम/पारसी सज्जा/के विरुद्ध है, यही भारतीय है (वही,46) इसीलिए समूचा जीवन ही आलम्बन है प्रकृति ही आलम्बन है।

मलयज कहते हैं कि 'विशिष्ट और विलक्षण के विरुद्ध सामान्य और सर्वानुभूत की पक्षधरता' (वही, 52) उनका मौलिक तत्त्व है। शुक्ल जी का यह बड़ा ही सेलिब्रेटेड तत्त्व है लेकिन यह सब किधर जाता है?

इसका जवाब मलयज नहीं तलाशते और एक गम्भीर किन्तु तर्करहित निष्कर्ष निकालते हैं : गँवईपन देहातीन प्रकृतपन है यहाँ। अन्तर्विरोध नहीं होता विरुद्धों का सामंजस्य होता है। 'सामाजिक विचारों में महामना के सहनशील हिन्दू आदर्शों के प्रति अनुरक्ति एक तरफ, राजनीति में तिलक की उग्रपंथी विचारधारा का समर्थन दूसरी तरफ, तथापि वह धर्म और राजनीति को अलग-अलग खानों में ही रखना पसन्द करते हैं। उनका घालमेल एक ऐसी पेंचीदगी है जो उसकी समझ में नहीं आती' (वही 46)

मलयज रामचन्द्र के सेक्यूलर पाठ में कहाँ तक गए? धर्म और राजनीति में घालमेल उन्हें पसन्द नहीं। साहित्य और धर्म की मिक्सिंग के बारे में शुक्लजी के क्या ख्याल हैं यह मलयज नहीं देखते। जबकि उनका जबर्दस्त्त क्षात्रधर्म और हिन्दूधर्म चिन्तामणि तीन के प्रकाशन से पहले से प्रकाशित है। उदाहरण का अंतिम वाक्य धर्म और राजनीति के घालमेल की पेंचीदगी उनकी समझ में नही आती थी —यह वाक्य एक चोर वाक्य है। शुक्ल जी से बेहतर कोई नहीं जानता कि साहित्य का मामला धर्म से गहरा जुड़ा है। कहें कि अभिन्न है और जीवन भी धर्म से अभिन्न है। वे समीक्षा के साम्प्रदायिक पाठ के उज्ज्वल उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसे धोकर साफ कर देना कमजोर सेक्यूलरिज्म है। मलयज रामचन्द्र शुक्ल को बचा लेना चाहते हैं।

मलयज की एक स्थापना उपयोगी है जो मूलतः नयी कविता के सामान्य मनुष्यवाद के जरिए शुक्ल जी का पाठ ज्यादा है। नयी कवितावादी दृष्टि शुक्ल जी को कितना सामयिक बनाए और कितना साफ करे इसे देखना हो तो प्रस्तुत प्रसंग देखने योग्य है : 'शुक्ल जी की इस लड़ाई का हीरो सामान्य मनुष्य है' (वही, 52) यह सामान्य मनुष्य अपने समय के पिछड़ेपन से घिरा है। शुक्ल जी इसी को बाहर लाना चाहते हैं। मलयज में यह सामान्य मनुष्य मानो मलयज खुद ही है जिन्हें शुक्ल जी बाहर निकालते हैं। अनभूत सत्य पर जोर देते हैं।' इस पिछड़ेपन में भावयोग कैसे सधे कि सब पिछड़ेपन वाले एक हो जाएँ, मलयज शुक्ल से एक फैंटेसी प्रसंग गढ़कर पूछते हैं (वही, 50)

शुक्ल जी कहते हैं कि 'सत्य सबकी सामान्य सम्पत्ति होता है झूठ हरेक का अलग-अलग होता है' (वही, 50) मलयज इस उत्तर पर मुग्ध है।

क्या बहुवचन के इन वास्तविक दिनों में मलयज से पूछा जा सकता है कि क्या बहुवचनता के इन दिनों में सत्य हरेक का अलग-अलग नहीं होता है?

लेकिन मलयज सत्य को सबका मानते हैं/ वही आधुनिकतावादी 'एकार्थवादी' स्थिति है। सत्य प्रकृत है/ प्रकृति में है (50) जबकि इधर क्या कभी भी सत्य भी मनुष्यकृत ही था प्रकृत भी होना मनुष्यकृत होना है/ लेकिन मलयज प्रकृति को पूर्वसत्य मानते हैं इसलिए उनके लिए शुक्ल एक सत्य के अधिष्ठान हैं। प्रकृति को वे धरती से एकाकार करते हैं। देहातीपन, गँवईपन और धरतीपन—ये मलयज के अपने व्यंजक हैं जो वे शुक्ल जी के लिए नियोजित करते हैं। 'धरती शुक्लजी के सामान्य मनुष्य का संस्कार है, आकाश उसका कर्म। अपने संस्कारों में वह धरती की ही तरह ठोस है अपनी संवेदना में मूर्त और वस्तुन्मुखी अपने कर्म से वह उड़ता है आदर्श के पक्ष में हाथ उठाता है' (वही, 52)

मानो शुक्ल जी के रूप को ऐसे उपरूपकों की जरूरत है! मलयज धरती आकाश

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

का उपरूपक लगाते हैं और उनका सामान्य आदमी शुक्ल जी का सहृदय बन जाता है। वह सामान्य आदमी छायावाद के खिलाफ है। इसी के लिए शुक्ल जी छायावाद के खिलाफ जाते हैं। मनोविकार सम्बन्धी तमाम विचार इसी से सम्बद्ध हैं। इस सामान्य आदमी का भाव केन्द्रीय तत्त्व है। इसी लिए शुक्ल मनोविकारों को, रस को इसके अर्थ में ही पढ़ते हैं। यह आदमी शास्त्र के विपरीत सहज है यह सामान्य मनुष्य गँवई गाँव का है। 'इस सामान्य आदमी की जड़ गाँव है, वृंत शहर है। यही नक्शा शुक्ल जी का है' (वही, 53) भावुकता, प्रकृति-प्रेम, लोकधर्म का मूल्यादर्श, भाषा में ठेठ हिन्दी का ठाठ—यह है गाँव। भाव-वस्तु सम्बन्ध का सिर्फ अनुभवन नहीं, विश्लेषण, खंडन-मंडन, तर्क, कटाक्ष और तेवर। यह है शहर (वही, 53) शुक्ल जी तुलसी के जिस राम को खोजते हैं वह यही सामान्य आदमी है (53) मलयज यहाँ फिर इस आदमी की क्षात्रधर्म में शुक्ल जी द्वारा की जाती जबर्दस्त नियुक्ति को नहीं देख पाते।

धरती यानी सामान्य आदमी की बाहरी प्रत्यक्ष दुनिया ही लोक-जगत है काव्य का विभाव है और उसके सामीप्य लाभ से उसे बदलने का जतन है। यह सामान्य आदमी का जगत है। अभिधा और नाटकीयता इसीलिए शुक्ल जी के दो जबर्दस्त व्यंजक हैं।

मलयज बहुत मेहनत करके सामान्य आदमी को डिफाइन करते हैं राम भक्त जैसा बताते हैं, लेकिन फिर उन्हें सन्देह होता है और सामान्य आदमी स्वयं एक मिथ में बदल जाता है। क्षात्रधर्म को बचाते-बचाते वे सामान्य आदमी को खोजकर भी नहीं बचा पाते मलयज का यह जतन साहस भरी निराशा है। वे शुक्ल जी के कोड को बदलना चाहते हैं और उसके रूपकों को लाँघकर अन्योक्ति में उसे युग सत्य कहकर एक ऐतिहासिकता देना चाहते हैं लेकिन लोकधर्म और क्षात्रधर्म जैसे शुक्ल जी द्वारा सुव्याख्यायित पदों और उनमें निहित सक्रिय रूपकों को भुलाकर। खुद कि शुक्ल जी स्वयं ऐसा नहीं करने देते और करने वाले की चुगली बुरी तरह खाते हैं मलयज के बाद शुक्ल जी को पढ़ना इस चुगली को ही पढ़ना है। शुक्लजी अपना धर्म नहीं छिपाते। मलयज उसे ही छिपाते हैं। यह नव्य समीक्षा की सीमा है। विखंडन के दिनों में तो व्यंजकों को उलट-पलटकर ही देखा जा सकता है और तब मालूम पड़ता है कि शुक्ल जी एक हिन्दू विमर्शकार हैं जो अपने समय के प्रतिबिम्ब तो हैं ही अपने समय को सत्ता के विमर्श में बदलने वाले भी हैं और हिन्दी आलोचना अभी तक उनके विमर्श से बाहर नहीं निकली है, जबकि रचना का विकास उनके कहे ठीक उल्टी दिशा में हुआ है। आज की रचना साधारणीकरण की ओर प्रवृत्त न होकर व्यक्तिवैचित्र्य की ओर ही प्रवृत्त मानी जा सकती है। सत्य की सार्वभौमिकता और साधारणीकरण की सम्प्रेषणीयता आदि पद अब उस तरह नहीं मिलते। दलित, स्त्रीत्व और अल्पसंख्यक अनुभवों की विशिष्टता के इस वक्त में शुक्ल दूर तक काम नहीं आते। उनका ब्राह्मण-क्षात्रधर्म आज फासिज्म की खुराक बन रहा है और राम के पापूलिस्ट नये भक्त एक विनीत राम को उग्र राम बनाकर लोक-जीवन को तहस-नहस करने में लगे हैं। स्वयं शुक्ल जी के राम इससे मिलते-जुलते हैं। आश्चर्य है कि शुक्ल जी के कोड लोक के नहीं स्पर्धात्मक क्षात्रधर्म के बड़े काम के साबित हो रहे हैं। उनका पश्चिम-विरोध उन्हें जैसा भारतीय बनाता है वैसे भारतीय ग्लोबल में सम्भव न तब थे न अब हैं। उनका पूँजीवाद-विरोध वह तत्त्व है जो उन्हें प्रतिक्रियावाद का औजार बनाता है। लेकिन इसकी अनदेखी करने में मलयज तो मामूली जिम्मेदारी हैं। असल तो उनका जिम्मा है जो खुद को प्रगतिशील कहते हैं? वे शुक्ल जी की धर्मभूमि को नहीं खोलते! आलोचना में धर्मभूमि को खोला जाना चाहिए। शुक्ल जी की आलोचना धर्म की आलोचना के बिना वाकई सम्भव नहीं है। मलयज की तरह या रामविलास या नामवर की तरह उसे छिपाने से तो हरगिज सम्भव नहीं है। इसका अर्थ न तो यह है कि शुक्ल जी का हिन्दू होना अपराध है और न यह कि हमें उनके हिन्दू होने से दिक्कत है। दिक्कत इस तथ्य की सक्रियता और अर्थ निर्माण में इसकी भूमिका को छिपाने से है। विखंडन इस पहलू को खोलने की सुविधा देता है क्योंकि वह किसी के धार्मिक होने और उससे निःसृत किसी पूर्ण-पूर्व सत्य की, पवित्रता की, कोई गारंटी नहीं मानता। देखना ही होता है कि धर्म के उपलब्ध व्यंजकों की लीला क्या है यानी धर्म भूमि क्या है और किस तरह उसमे गाँठें लगी हैं? किस तरह वह अपने अर्थो के छल में कैद है।

शुक्ल जी एक सक्रिय राम के निर्माण के अनुरोधों और तुलसी के राम के विनम्र छवि को बदलने के बीच कहीं फँसे नजर आते हैं। वे आसानी से एकार्थवादी हिन्दुत्व के औज़ार बनते दिखते हैं। वे बहुवचन को जगह नहीं देते।

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

साहित्य इतिहास, कबीर और वर्चस्वविहीन-संस्कृति

कमलेश वर्मा

आचार्य रामचंद्र शुक्ल आज भी हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े इतिहासकार हैं। लम्बे समय से इस विषय पर कोई नया महत्त्वपूर्ण काम नहीं हुआ है। इतिहास के विकल्प के रूप में हिन्दी आलोचना ने खुद को स्थापित कर लिया है। इतिहास की कमियों अथवा उसके अभाव को आलोचना के माध्यम से दूर करने की कोशिश की जाने लगी है। शायद इतिहास के भारी-भरकम स्वरूप के कारण यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई हो! मगर केवल यही कारण पर्याप्त नहीं लगता है। इतिहास-दृष्टि इसमें सबसे बड़ी चुनौती है। इसे निर्धारित कर पाना और उस पर कायम रहकर एक हजार साल के इतिहास का सम्यक मूल्यांकन कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। तमाम सावधानियों के बावजूद फिसलने की गुंजाइश बनी रहती है। आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना में अनेक दृष्टियों का आना-जाना लगा रहा, मगर इनके आधार पर कोई मुकम्मल इतिहास नहीं लिखा जा सका। प्रगतिवाद से लेकर दलित और स्त्री-विमर्श तक ने साहित्य को प्रभावित तो किया, मगर अपनी दृष्टि से साहित्य इतिहास को नहीं रच सके। विचारणीय है कि बहुजन साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से इतिहास रचा जा सकता है क्या?

इतिहास-दृष्टि को बनाने में 'जनता' की भूमिका को शुक्ल जी ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यह 'जनता' कौन है? उनका प्रसिद्ध वाक्य है—''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है ... आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।[1] प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने 'शिक्षित जनता' की बात की है। 'काल विभाग' के अन्तर्गत उन्होंने 'जनता' की बात की है और अन्य स्थानों पर 'शिक्षित जनता' की। उनकी पुस्तक में अनेक स्थानों पर अनपढ़ जनता का जिक्र आया है। इस आबादी के प्रति उपेक्षा का भाव शुक्ल जी में हर जगह मौजूद है। उसके द्वारा लिखित या मौखिक साहित्य को शुक्ल जी साहित्य की कोटि में रखने के पक्षधर नहीं हैं, ''सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और योगधारा काव्य या साहित्य की कोई नयी धारा नहीं मानी जा सकती।[2] शुक्ल जी अशिक्षित और निम्न जाति से आनेवाले कवियों को पसन्द नहीं करते। यहाँ तक कि उन्होंने लेनिन की निन्दा इस बात के लिए की है कि उसने इस वर्ग को क्रांति के लिए प्रेरित किया, उन्होंने लिखा है, ''ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' अपने समय में महात्मा बना रहा।[3] जाति की श्रेष्ठता और निम्नता को लेकर वे कितने आग्रही हैं इसका नमूना उनका यह कथन हो सकता है, ''यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि 84 सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे। नाथ संप्रदाय भी जब फैला, तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान-संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्र पडिण्तों और विद्वानों को फटकारना भी वे जरूरी समझते थे।[4]

'जनता' और 'जनसमूह' का हवाला भारतेंदु युग से मिलने लगता है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था, साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है। मगर जनता का एक विशेष मतलब इन सभी स्थानों पर मौजूद है। भारतीय लोकतन्त्र में जैसे प्रत्येक वयस्क व्यक्ति मतदाता है वैसे हिन्दी साहित्य के इतिहास-चिन्तकों के लिए प्रत्येक व्यक्ति 'जनता' नहीं है। शुक्ल जी की शब्दावली अत्यन्त स्पष्ट है। वे अशिक्षित और निम्न जाति के लोगों को 'जनता' मानते ही नहीं हैं। शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि को वस्तुवादी माना जाता रहा है जो ठीक भी है। उनके निकष भी स्पष्ट हैं जिन पर वे प्रायः दृढ़ रहते हैं। जाहिर-सी बात है कि इस दृष्टि के सहारे बहुजन समाज के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी से भिन्न दृष्टि का उपयोग करके सन्त-साहित्य के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न किया। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' एवं अन्य पुस्तकों में उन्होंने 'जनता' के बदले 'लोक' शब्द पर जोर दिया। इससे नाथ और सिद्ध-साहित्य को साहित्यिक ऊँचाई प्रदान करने में सुविधा हुई। 'जनता' और 'लोक' शब्द बहुजन संस्कृति को ठीक-ठीक व्यक्त करने में असमर्थ हैं। 'जनता' का अर्थ लिया गया—ऊँची जातियों की पढ़ी-लिखी आबादी और 'लोक' का अर्थ लिया गया—अत्यन्त दबी-कुचली निचली जातियों की अशिक्षित आबादी। इन दोनों सामाजिक वर्गों में पिछड़ी जातियों के लिए ठीक-ठीक जगह नहीं बन पाती है।

शुक्ल जी ने तुलसीदास के सामाजिक बोध को जाति के प्रश्न से भी जोड़ा।

उनके विश्लेषणों में तुलसी के वर्ण-विचार को न्यायसंगत बताने की कोशिश बार-बार की गयी है। कुल मिलाकर, वर्णाश्रम की संशोधित पुनःस्थापना की कोशिश, शुक्ल जी की जाति-सम्बन्धी दृष्टि का सार है। वे ब्राह्मण-शूद्र-सम्बन्ध पर अत्यन्त सावधानी के साथ लिखते हुए पुरातन का पक्ष लेते हैं। उनकी 'जनता' का अर्थ यहीं से जुड़ा है। द्विवेदी जी ने कबीर को एक मजबूत व्यक्तित्व के रूप में पेश किया। द्विवेदी जी के विश्लेषण से यही समझ में आता है कि कबीर को जो लोक मिला था वह न्यारा था। उन्होंने अनेक असम्भव के समाहार-बिन्दु पर कबीर को खड़ा किया। मगर कबीर किस समाज के कवि थे इसका ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया। 'लोक' की अवधारणा ने सर्वहारा और दलित वर्ग की साहित्यिक पहचान को बनाने में सहयोग प्रदान किया जिन पर आगे चलकर विस्तार से काम भी हुए।

साहित्य के इतिहास में रचनाकार के युग-प्रभाव पर बात की जाती है। वह अपने युग से लेकर आज तक के समय पर कैसा प्रभाव छोड़ पाया है या वह क्यों जरूरी रहा है? रचनाकार जिस प्रसंग में अपरिहार्य मालूम पड़ता है उसी के अनुसार इतिहास में उसका जिक्र किया जाता है। कबीर एक अपरिहार्य कवि रहे हैं। उनके बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास पूरा नहीं हो सकता। यही कारण है कि निषेधात्मक रवैया के बावजूद शुक्ल जी ने कबीर पर पर्याप्त मात्रा में लिखा है। तुलसी, जायसी और सूरदास पर लिखी उनकी पुस्तकों में कबीर के प्रसंग भरे पड़े हैं।

कबीर के साहित्य के मूल्यांकन पर बहुत कुछ लिखा गया है। पुराने कवि को नयी भाषा में व्याख्यायित करने की जरूरत पड़ती है। युगीन सन्दर्भों के अनुसार कवि की सार्थकता की तलाश की जाती है। इस कसौटी पर जो रचनाकार जितनी बार अपरिहार्य मालूम पड़ता है वह उतना ही श्रेष्ठ होता है। कबीर की कविता निरंतर नयी व्याख्यायों से जुड़ती जा रही है। दलित-विमर्श के बड़े चिन्तक डॉ. धर्मवीर ने कबीर को दलित मानकर 'कबीर के आलोचक' की ही खबर नहीं ली, बल्कि 'कबीर : नयी सदी' में कैसे होंगे इस पर तीन खण्डों में पुस्तक भी लिखी। डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल की 'अकथ कहानी प्रेम की' सुनकर उन्होंने 'खसम खुशी क्यों होए' का सवाल खड़ा किया। उनकी ताकत का असली आधार यही था कि कबीर दलित थे इसलिए उन पर बात करने का अधिकार केवल दलित लेखकों को है।

कबीर जन्म से जुलाहा थे या ब्राह्मण? अब बहस की जरूरत नहीं रह गयी है। डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल, डॉ. धर्मवीर आदि विद्वानों ने प्रमाणपूर्वक माना है कि कबीर जन्म से जुलाहा थे। विधवा ब्रह्मणी वाली कथा बाद में जोड़ी गयी है। कबीर ने खुद को बार-बार जुलाहा कहा है। जुलाहा जाति इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आने वाली जाति है। शुक्ल जी ने तो नहीं मगर द्विवेदी जी ने पूरी कोशिश की है कि कबीर हिन्दू मान लिये जाये। जाति जुलाहा और धर्म हिन्दू—ऐसी कोशिश लगातार चलती रही। डॉ. धर्मवीर ने कबीर को किसी भी तरह से हिन्दू मानने से इनकार किया, मगर हिन्दू समाज की बुराई 'अस्पृश्यता' से कबीर को जोड़ते रहे ताकि दलित मुद्दा बना रहे। डॉ. अग्रवाल ने स्पष्ट तौर पर कबीर को जुलाहा तथा मुसलमान माना। उन्होंने ओबीसी के रूप में कबीर की जाति की पहचान भी की, मगर अपनी पुस्तक में कबीर को 'अन्त्यज' कहकर भ्रम भी खड़ा कर दिया। 'अन्त्यज' शब्द केवल दलित-जातियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हुए कबीर को पिछड़ी जाति में जन्मे कवि के रूप में पहचाना जाना चाहिए। पिछड़ी जातियों का समूह आज भारत की आबादी का लगभग 65% है। इतने बड़े समूह को शुक्ल जी 'जनता' नहीं मानते और द्विवेदी जी का 'लोक' शब्द ऐसा भ्रम खड़ा करता है कि आगे चलकर इस बृहत् आबादी के योगदान को दलित-वर्ग के द्वारा हथियाने की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। कबीर की पहचान एक ऐसे कवि के रूप में होनी चाहिए जिसने जातिवाद के खिलाफ सबसे सशक्त हस्तक्षेप किया। तुलसी जातिवाद का स्पष्ट पोषण करते हैं और ब्राह्मण की श्रेष्ठता एवं शूद्र की निकृष्टता की घोषणा करते हैं। कबीर के लगभग तीन सौ छंद जातियों से जुड़े हैं।[5] मगर उनकी कविता में किसी प्रकार का जातिवादी आग्रह नहीं मिलता है। ब्राह्मण-विरोध को उनकी पहचान बताना ठीक नहीं है। उन्होंने जहाँ भी ब्राह्मण का विरोध किया है वहाँ उन्होंने ब्राह्मण की किसी-न-किसी गलती या बदमाशी या शरारत का जिक्र जरूर किया है[6], मगर तुलसी शूद्र को अकारण दोषी बताते हैं अथवा उसे नीचे बनाये रखने की सिफारिश करते हैं। तुलसी शूद्र के लिए किसी भी तरह से सम्मानजनक स्थान की गुंजाइश नहीं छोड़ते,[7] मगर कबीर निर्गुण-पंथ और अमरदेसवा में प्रवेश की पाबन्दी ब्राह्मण पर नहीं लगाते।[8] कबीर का रास्ता कुछ इस तरह का है कि या तो जाति की बात ही मत करो[9] या करो तो अपनी जाति पर गर्व करो।[10] दूसरे को उसकी जाति के कारण न तो ऊँचा मानो और न ही नीचा। कबीर ने स्वयं को 'जुलाहा' कहते हुए हीनता-बोध का परिचय कहीं नहीं दिया है। कबीर की सामाजिक-दृष्टि इतनी न्यायसंगत है कि उसमें सबको अपने लिए सम्मान दिखाई पड़ सकता है। जातिवादी वर्चस्व की कामना रखने वालों को कबीर की दृष्टि अप्रिय लगेगी। दलित-विमर्श ने भी कबीर की दृष्टि के साथ जबरदस्ती की और उनकी कविता में दलितों की आवाज ढूँढ़ ली। कबीर ने दलित-विमर्श के हिसाब से कोई बात नहीं कही है। वर्णाश्रम का विरोध कबीर ने जमकर किया है जिसे दलित-स्वर बताना उचित नहीं है। वर्णाश्रम के विरोध के इतिहास को देखा जाये तो उसमें पिछड़ी जातियों का योगदान दलितों की तुलना में बहुत बड़ा है। सच तो यही है कि दलितों की स्थिति इतनी दयनीय रही कि प्रबल विरोध की ताकत जुटा पाना उनके लिए कठिन काम था। मक्खलिगोशाल से लेकर ज्योतिबा फुले तक के संघर्ष के बिना डॉ. अम्बेडकर की कल्पना नहीं की जा सकती। महाराष्ट्र की बहुजन-संस्कृति के निर्माण में ज्योतिबा फुले का योगदान सबसे बड़ा है। मध्यकाल

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

में रैदास के अलावा कोई बड़ा नाम दलित-समाज से नहीं मिलता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रैदास की आवाज में वह ताकत नहीं है जो कबीर की आवाज में है। वर्णाश्रम के विरुद्ध कबीर का संघर्ष रैदास की तुलना में ज्यादा बड़ा है।

डॉ. अग्रवाल ने कबीर की कविता में व्यापारियों की पीड़ा को महसूस किया है, ''कबीर की कविता व्यापारियों और दस्तकारों की सामाजिक आकांक्षाओं को सृजनात्मक धरातल और आध्यात्मिक मुहावरा देने वाली कविता है।[11] डॉ. अग्रवाल की पूरी पुस्तक इस बात को स्थापित करना चाहती है कि कबीर को व्यापारी-वर्ग के कवि के रूप में स्थापित किया जाये। उन्होंने व्यापारी-वर्ग की ऐतिहासिक भूमिकाओं को अनेक स्रोतों से दिखलाते हुए सिद्ध करना चाहा है कि इस दुनिया को खुशहाल और रहने लायक बनाने में व्यापारियों की सबसे बड़ी भूमिका है। इसी लपेटे में वे कबीर को भी इस संपन्न वर्ग से जोड़ देते हैं। कबीर जुलाहा थे, काशी में रहते थे, चादर बुनते थे, कारीगर थे, अपनी जाति को लेकर हीनता-बोध नहीं रखते थे, जो गलत लगे उसका ऐलान करने में संकोच नहीं करते थे, अपनी बात 'सन्तों' अथवा 'साधो' को सम्बोधित करके कहते थे। उन्होंने व्यापारी के पक्ष से एक भी कविता नहीं लिखी। उनकी कविता में अनेक जातियों का जिक्र है, मगर उन्होंने सकारण ही सही केवल दो जातियों का विरोध किया है अथवा मजाक उड़ाया है—ब्राह्मण और बनिया। तुलसी ब्राह्मण के पक्ष से कविता लिखते हैं मगर कबीर किसी भी जाति के पक्ष से कविता नहीं लिखते। जाति के सन्दर्भ पर बेबाक टिप्पणी करने वाले कबीर ने सही अर्थ में जाति की निरपेक्षता का पक्ष लिया है।

कबीर को साहित्य के इतिहास में दर्ज करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि वे भारत की सामाजिक बुनावट के सबसे बड़े जाति-समूह में जन्मे कवि थे। यह वर्ग इतना विराट था कि सबकी समानता और सम्मान की बात इसी वर्ग का दृष्टि-संपन्न कवि कर सका। जाति की पीड़ा के कारण की तलाश उसने न केवल बाहर की, बल्कि अपने भीतर की आध्यात्मिक कमजोरियों से लड़ने के दार्शनिक उपकरण भी विकसित किये। सामाजिक लड़ाई को बहस और तर्क की तेज धार से फतह करने वाले कबीर किसी संकीर्ण समझ में खुद को नहीं डुबो लेते। बहुजन-दृष्टि से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हुए कबीर से यह समझ ली जानी चाहिए कि हम ऐसे रचनाकारों को महत्त्व दें जो जाति के आधार पर संकीर्ण विचार नहीं रखते हों। ब्राह्मणवाद के विरोध का मतलब यह नहीं है कि हम किसी अन्य जाति के आधार पर कोई नया जातिवाद खड़ा कर दें। इसके लिए जरूरी है कि जातियों की संरचना पर साफ शब्दों में बात हो। तुतलाती हुई मायावी भाषा में सामाजिक समस्या का समाधान नहीं हो पाता है।

बहुजन-संस्कृति बहुसंख्यक की संस्कृति है। शायद यही कारण है कि इस वर्ग ने अपने वर्चस्व की चिन्ता कभी नहीं की। प्रेम कुमार मणि कबीर की कविता को उल्लास की कविता कहते हैं। इसमें रिरियाहट नहीं है। यह भाव अपने श्रम और मौजूदा जीवन पर विश्वास करने से उत्पन्न होता है। बहुजन-संस्कृति के सन्दर्भ में वर्चस्व की अवधारणा असफल होती मालूम पड़ती है। कबीर अपनी बात कहकर चुप हो जाते हैं— 'मन मस्त हुआ तो क्यों बोले'। वे ऐसा नहीं चाहते कि अपना झंडा बुलन्द कर लिया तो चलो अब प्रतिपक्ष को अपमानजनक स्थिति में डाला जाये। सच्ची मनुष्यता और वर्चस्व-विहीन समाज की कल्पना केवल कबीर के पास है। बहुजन जनता की इस चित्तवृत्ति को शुक्ल जी रेखांकित नहीं कर पाते हैं और द्विवेदी जी का 'लोक' अपनी तुतलाहट के कारण सामाजिक प्रश्नों के प्रति भ्रम उत्पन्न करता है।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 5047 वि, पृ. 18 (काल विभाग)
2. वही, पृ. 8 (संशोधित और प्रवर्धित संस्करण के सम्बन्ध में दो बातें)
3. गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2053 वि, पृ. 27
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2047, वि, पृ. 10-11
5. देखें—जाति के प्रश्न पर कबीर—कमलेश वर्मा, पेरियार प्रकाशन, ⁄44, अशोकपुरी कॉलोनी, खाजपुरा, पटना
6. 'पंडित मिथ्या करहु बिचारा, ना वह सृष्टि न सिरजनहारा'
'पंडित बाद बदंते झूठा'
'पांडे कौन कुमति तोहि लगी'
7. ''पूजिअ विप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना॥
8. ''सन्तन जात न पूछो निर्गुनियाँ
साध ब्राह्मण साध छत्तरी , साधै जाती बनियाँ ।
''जहवाँ से आयो अमर वह देसवा।
पानी न पान धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा॥
बाम्हन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा॥''
9. ''जाति न पूछौ साधुकी, जो पूछौ तो ज्ञान।
मोल करो तरवार का, परा रहन दो म्यान॥''
10. जाति जुलाहा मति कौ धीर
11. अकथ कहानी प्रेम की कबीर की कविता और उनका समय --- पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ. 49

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

'अन्यों' का गौरवशाली इतिहास

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

अपनी पुस्तक 'ओबीसी साहित्य विमर्श' (सम्यक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014) में मैंने रेखांकित किया है कि सिद्ध साहित्य में कई 'अन्यय' पिछड़ा वर्ग के (ओबीसी) रचनाकार हैं। मीनपा मछुआरे हैं। कमरिपा लोहार हैं। तंतिपा ततवा जाति से आते हैं। चर्टटीपा और कंतालीपा क्रमशः कहार और दर्जी हैं। तिलोपा तेली हैं। मेकोपा, भलिपा, उधलिपा आदि वैश्य-वणिक हैं। इस प्रकार हम दावे के साथ कह सकते हैं कि सिद्ध साहित्य ओबीसी रचनाकारों से भरा-पूरा है। नाथ और जैन साहित्य भी ओबीसी रचनाकारों के योगदान से समृद्ध है। लेकिन हिन्दी साहित्य का वास्तविक इतिहास कबीर से आरम्भ होता है। इसलिए हिन्दी में ओबीसी साहित्य की धारा इस लेख में कबीर से प्रदर्शित की गई है। यह भी ज्ञातव्य है कि हिन्दी की भाँति भारत की प्रत्येक भाषा में ओबीसी साहित्य की गौरवशाली धारा रही है। मिसाल के तौर पर मराठी साहित्य को लिया जा सकता है, जहाँ उसके आरम्भिक दौर में नामदेव (दर्जी), गोरा (कुम्हार), सांवता (माली), नरहरि (सोनार) और राका (कुम्हार) से लेकर आधुनिक काल में जोतिबा फूले तक एक से बढ़कर एक ओबीसी रचनाकार हुए। ऐसी ही धारा तमिल, मलयालम और कन्नड़ से लेकर गुजराती और असमिया तक निरन्तर प्रवहमान है। बहरहाल, इस लेख में सिर्फ हिन्दी प्रदेश की ओबीसी की साहित्यिक धारा की पहचान की गई है। ओबीसी की इस साहित्यिक धारा में अनेक कवि और रचनाकार हुए। सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक ओबीसी साहित्य का आदिकाल है जिसमें अनेक ओबीसी सिद्धों, नाथों एवं जैनियों का योगदान है। इसका मध्यकाल कबीर से आरम्भ होता है जैसा कि कहा गया है कि हिन्दी साहित्य का वास्तविक इतिहास कबीर से आरम्भ होता है इसलिए दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का आरम्भ ओबीसी साहित्य के क्रोड़ से होता है। ओबीसी साहित्य का मध्यकाल अत्यन्त समृद्ध है। मध्यकाल की तीन धाराओं में इसकी गरिमय उपस्थिति देखी जा सकती है—1. संत काव्यधारा 2. सरभंग संप्रदाय 3. भगताही पंथ। मध्यकालीन संत काव्यधारा में अनेक ओबीसी कवि हुए-कबीर, धन्ना भगत, धर्मदास, सींगा, सेन, दादूदयाल, बूला साहब, दरिया साहब, पलटू साहब, चरणदास, हरिचरणदास, सहजोबाई, दयाबाई, गरीबदास, कमालदास आदि। सरभंग सम्प्रदाय के कवियो में बालखंडी, टेकमनराम और भिनकराम सर्वाधिक ख्यात हुए। भगताही पंथ के संस्थापक भगवान गोसाईं हैं। वे जाति के अहीर थे और पिशौराबाद (बुंदेलखंड) के निवासी थे। इसका मुख्यालय धनौती (बिहार) में था। भगताही पंथ में ओबीसी के अनेक रचनाकार हुए। ओबीसी साहित्य के आधुनिक काल को इसका 'स्वर्णयुग' कहा जा सकता है। इस स्वर्णयुग के निर्माण में जे. पी. चौधरी, भिखारी ठाकुर, रामस्वरूप वर्मा, ललई सिंह यादव, महाराज सिंह भारती, अनूपलाल मंडल, हवलदारी राम गुप्त ''हलधर'', गंगा प्रसाद, गोपीचंद गुप्त बडगर्वे, निर्गुण सिंह ''खाली'', आर. एल. चंदापुरी जैसे अनेक ओबीसी विचारकों एवं रचनाकारों का योगदान रहा है। सिर्फ त्रिवेणी संघ और अर्जक संघ से जुड़े ओबीसी साहित्य पर ध्यान केंद्रित करें तो ज्ञात होगा कि राम काव्यधारा से कई गुना विशाल इनका साहित्य है।

कबीर से लेकर आधुनिक काल तक ओबीसी साहित्य के कुछ प्रमुख रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय एवं उनकी उपलब्धियों का कालक्रमानुसार विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

1. कबीर : कबीर का जन्म 1398 ई. में हुआ था। वे जाति के जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे। कबीर ने जाति-प्रथा, वर्णाश्रम धर्म, छुआछूत, धार्मिक आडंबर, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, सामाजिक कुप्रथाएँ, अंधविश्वास आदि का घोर विरोध किया। उनकी संकलित रचना का नाम ''बीजक'' है। साखी, सबदी, रमैनी उसके तीन भाग हैं।

2. धन्ना भगत : धन्ना भगत का जन्म 1415 ई. में राजस्थान के टांक इलाके में धुवान गाँव में हुआ था। ''भक्तमाल'' में इनके उज्ज्वल चरित्र का वर्णन है। ये जाति के जाट थे। इनके रचित चार पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित ''आदिग्रन्थ'' में संगृहीत हैं।

3. धर्मदास : धर्मदास का जन्म वैश्यकुल में मध्यप्रदेश के बाँधोगढ़ में हुआ था। इनका जीवन-काल संवत् 1475 और 1585 के बीच अनुमानित किया गया है। इनका प्रमुख ग्रन्थ ''सुखनिधान'' है। कहा जाता है कि धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, पूजा आदि के विरोध में इन्होंने जो काव्य लिखा, उसके लिए बाँधोगढ़ नरेश ने इन्हें दंडित भी करना चाहा।

4. कृष्णदास : कृष्णदास अष्टछाप के प्रमुख कवि हैं। इनका जन्म 1496 ई. में गुजरात के चिलोतरा नामक गाँव में एक कुनबी पटेल के घर हुआ था। इनके शताधिक फुटकर पद उपलब्ध हैं।

5. सींगा : संत सींगा का जन्म 1519 ई. में मध्यभारत की रियासत वडवानी

के खजूर गाँव में हुआ था। वे जाति के ग्वाल थे। उनके अनुसार परम तत्त्व की खोज में मन्दिर, मस्जिद और तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं है। गंगा, यमुना आदि में स्थान करना व्यर्थ है। सिंगा जी का दृढ़ उपदेश, सिंगा जी का आत्मध्यान, सिंगा जी का नरद, सिंगा जी की वाणी, सिंगा जी के भजन आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

6. सेन : संत सेन का जन्म 1540 ई. में अनुमानित किया गया है। ये जाति के नाई थे। ''भक्तमाल'' में इनकी प्रशंसा है। ''आदिग्रन्थ'' में इनका एक पद संकलित है।

7. दादूदयाल : दादूदयाल का जन्म 1544 ई. में अहमदाबाद में हुआ। वे जाति के धुनिया थे। वे भी कबीर की भाँति मानवतावाद के समर्थक हैं। हरडे वाणी, अंगवधू आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

8. लालचदास : लालचदास का जन्म 1595 ई. में हुआ था। ये जाति के हलवाई थे। इन्हें अवधी में कृष्णकाव्य का प्रणेता माना जाता है। इनकी प्रमुख कृति ''हरिचरित'' है। इसका फ्रेंच भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

9. सुन्दरदास : सुन्दरदास का जन्म 1596 ई. में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा नगर में एक वैश्य परिवार में हुआ था। इनकी विचारधारा दादूदयाल से प्रभावित है। इनकी कुल 42 रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। ज्ञानसमुद्र और सुन्दरविलास इनकी सर्वाधिक प्रमुख कृतियाँ हैं।

10. पतिराम : पतिराम महाकवि केशवदास के ओरछा वासी मित्र थे। ये जाति के सुनार थे। इनका समय संवत 1660 के आसपास है। इनकी फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं।

11. बूला साहब : बूला साहब का जन्म 1632 ई. में गाजीपुर जिले के भुरकुड़ा नामक गाँव में हुआ था। ये जाति के कुनबी या कुर्मी थे। इनकी रचनाओं का संग्रह ''बुल्ला साहब का शब्दसार'' है। ये कबीर, सेन, रैदास जैसे कवियों से प्रभावित थे।

12. दरियादास : दरियादास नामक दो संत हुए-एक बिहार के थे और दूसरे मारवाड़ के। बिहारवाले दरियादास दर्जी परिवार के थे और मारवाड़वाले धुनिया थे। बिहारवाले दरियादास का जन्म रोहतास जिले के धरकंधा नामक गाँव में संवत् 1691 में हुआ था और मारवाड़वाले दरियादास का जन्म मारवाड़ के जैतारन नामक गाँव में संवत् 1733 में हुआ। बिहारवाले दरियादास की कुल मिलाकर बीस रचनाएँ हैं, जबकि मारवाड़वाले दरियादास की रचनाएँ ''दरिया साहब'' (वेलरेडियर प्रेस) में संगृहीत हैं। दोनों दरियादास माला, तिलक, छाप आदि की निन्दा की। अन्य संतों की भाँति दोनों मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जातिप्रथा आदि के विरोधी थे।

13. पलटू साहब : पलटू साहब का जन्म फैजाबाद जिले के जलालपुर गाँव में हुआ था। इनकी जन्म तिथि ज्ञात नहीं है, पर ये शुजाउदौला के समकालीन थे और 18वीं शताब्दी में वर्तमान थे। वे जाति के काँदू बनिया थे। वे जाति प्रथा और वर्णाश्रम जैसी परंपराओं के विरुद्ध थे। आत्मकर्म, बानी, ककहरा, रेखता, झूलना आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

14. चरणदास : चरणदास अलवर के दहरा गाँव के ढूसर बनिया थे। इनका असली नाम रनजीत था। इनका जन्म सं. 1760 में हुआ। ब्रजचरित, योगसंदेह सागर, ज्ञान स्वरोदय, भक्तिसागर, कुरुक्षेत्र लीला, माखनचोरी लीला, ब्रह्मज्ञान सागर इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

15. टेकमनराम : टेकमनराम चंपारण जिले के झखरा गाँव निवासी थे। ये जाति के लोहार थे। ये सरभंग सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों में से हैं। इनके लगभग एक हजार भजन और भक्ति-गीत मिलते हैं। टेकमनराम अठारहवीं शती के कवि हैं।

16. भिनकराम : भिनकराम भी सरभंग सम्प्रदाय के अठारहवीं शती के कवि हैं। इनका जन्म सहोरवा-गोनरवा (चंपारण) में हुआ था। ये जाति के ''ततवा'' थे। इनकी रचनाएँ भोजपुरी में मिलती हैं।

17. बालखंडी : बालखंडी (रामप्रेम साह) का जन्म महाराजगंज, पिपरा (गोविंदगंज) में 1843 वि. में हुआ था। ये जाति के साहू थे। इनके भोजपुरी में लिखे फुटकर पद मिलते हैं।

18. ठाकुर : ठाकुर का जन्म छपरा के साहबगंज मुहल्ले में एक काँदू (भड़भूजाँ) परिवार में हुआ था। ये हिन्दी के कवि पजनेस के समकालीन थे। इनका समय उन्नीसवीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनके लिखे भजन, कवित्त आदि मिलते हैं।

19. दीहलराम : दीहलराम का जन्म उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में फतुहा (पटना) में हुआ था। ये जाति के ठठेरा थे। ''अनुभवप्रकाश'' इनकी प्रमुख रचना है।

20. हरिचरणदास : हरिचरणदास का जन्म 1843 ई. में पूर्णिया जिले के कसबा नामक स्थान पर हुआ था। ये जाति के अग्रहरि वैश्य थे। इनकी दो रचनाएँ हैं-हरिचरणामृत-सतसई और चिंतामणि।

21. महेसदास : महेसदास पटना के निवासी थे और जाति के कहार थे। इन्होंने 1858 ई. में ''एकादशी महात्मय'' की रचना की थी।

22. रामशरण लाल : रामशरण लाल का जन्म 1869 ई. में दाऊदनगर (गया जिला) में हुआ। ये जाति के केसरवानी बनिया थे। गंगालहरी, प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के रेखाचित्र तथा कवियों और लेखकों के हस्तलेख इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। इनकी पुस्तकों पर महात्मा गाँधी ने अपनी सम्मति दी है।

23. गंगा प्रसाद : गंगा प्रसाद का जन्म 1875 ई. में हसुआ (जिला गया) में हुआ। ये जाति के तेली थे। इनकी कविताएँ ब्रजभाषा में हैं। साहुमित्र, तेली समाचार आदि में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। तैलीय वैश्य-हितकारिणी तथा अछूतोद्धार

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

24. जे.पी. चौधरी : जे.पी. चौधरी का जन्म मिर्जापुर जिले के अदलहाट नामक गाँव में 1881 ई. में हुआ था। ये जाति के कोइरी थे। इन्होंने हिन्दी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत और वैदिक संस्कृत का गहन अध्ययन किया था। इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं-कुशवाहा वंश परिचय, वैदिक वर्णव्यवस्था, हरिजन मन्दिर प्रवेश, क्या हनुमान जी बानर थे, पौराणिक तीर्थ मीमांसा, मूर्ति पूजा प्रश्नोतरी आदि। इसके अतिरिक्त उन्होंने ''कोयरी हितचिन्तक और पाखंड खंडिनी पताका'' जैसी समाजसुधारक पत्रिकाओं का संपादन भी किया।

25. रजनीकांत शास्त्री : रजनीकांत शास्त्री का जन्म 1881 ई. में शाहाबाद जिले के एकौना (बड़हरा) में हुआ। ये जाति के साहु थे। ''सिद्धान्त कौमुदी'' तथा ''मानसमीमांसा'' इनकी प्रसिद्ध रचना है। ''सिद्धान्त कौमुदी'' में व्याकरण की एक हजार नियमों की चर्चा है।

26. गोपीचंद गुप्त बडगवे : गोपीचंद गुप्त बडगर्वे का जन्म 1885 ई. में हसुआ (गया जिला) में हुआ। इन्होंने ग्यारह वर्षों तक जातीय पत्रिका ''माहुरी-मयंक'' का संपादन किया। ये ब्रजभाषा के कवि थे। माहुरी जाति सुधार, माहुरी मंडल नाटक, चेतावनी चाबुक, तेजा (नाटक), नाच आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

27. गंगा प्रसाद सेठ : गंगा प्रसाद सेठ का जन्म 1885 ई. में पुरानी गोदाम मुहल्ले (गया) में हुआ। ये अनेक वर्षों तक ''रौनियार नवयुवक सभा'' के सभापति रहे। इनकी रचनाएँ खड़ीबोली में हास्य-विनोदपूर्ण हैं।

28. मैथिलीशरण गुप्त : मैथिलीशरण गुप्त का जन्म उत्तर प्रदेश में झाँसी के पास चिरगाँव में 1886 ई. को गहोई जाति के कनकने बनिया परिवार में हुआ था। साकेत, भारत भारती, जयद्रथ वध, द्वापर, सिद्धराज, नहुष, यशोधरा, जय भारत, विष्णुप्रिया आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। अनघ, चंद्रहास, तिलोत्तमा, विसर्जन आदि उनके प्रमुख नाटक हैं।

29. भिखारी ठाकुर : भिखारी ठाकुर का जन्म 1887 ई. में सारण जिले के कुतुबपुर नामक गाँव में हुआ था। ये भोजपुरी के शेक्सपियर कहे जाते हैं। इनके समाज सुधार सम्बन्धी नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हैं। ये जाति के नाई (हजाम) थे। ''नाई बहार'' जातीय चेतना की सशक्त रचना है।

30. अंबिका प्रसाद गुप्त : अंबिका प्रसाद गुप्त का जन्म 1888 ई. में काशी के एक हलवाई परिवार में हुआ था। वे जयशंकर प्रसाद के भाँजे थे। शिवमोहिनी, रुद्रगुप्त, कवि किंकर, हिन्दी प्रेमी, अर्जुन, सच्चा मित्र या जिंदे की लाश उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

31. जयशंकर प्रसाद : छायावाद के प्रमुख कवि जयशंकर प्रसाद का जन्म 1889 ई. में वाराणसी में हुआ था। वे हलवाई बनिया थे। झरना, आँसू, लहर, कामायनी उनकी प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं। जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु आदि उनके प्रमुख नाटक हैं। छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इंद्रजाल उनके कहानी-संग्रह हैं तथा कंकाल, तितली और इरावती उनके उपन्यास हैं।

32. रूपनारायण गुप्त : रूपनारायण गुप्त का जन्म 1890 ई. में कमंगर-गली मुहल्ले (पटना सिटी) में हुआ था। ये जाति के बनिया थे। इन्होंने ''व्यापार शिक्षा'' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। इन्होंने कोई 4 वर्षो तक ''भारतमित्र'' (कलकत्ता) में कार्य-संपादन किया।

33. छेदीलाल शुचिलाल ''लाल'' : छेदीलाल शुचिलाल ''लाल'' का जन्म 1890 ई. में पुरानी गोदाम मुहल्ले (गया) में हुआ। ''रौनियार पत्रिका'' के संपादकीय विभाग में इन्होंने कोई एक वर्ष तक काम किया। ये जाति के साव थे। इनकी रचनाएँ समाज सुधार से ओतप्रोत हैं।

34. लक्ष्मीनारायण गुप्त : लक्ष्मीनारायण गुप्त मुजफ्फरपुर के निवासी थे। ये डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के साथ असहयोग आंदोलन में सक्रिय रहे। इन्होंने मुजफ्फरपुर से ''रौनियार-हितैषी'' नामक मासिक पत्रिका का संपादन किया। समाज हित में इनके अनेक लेख हैं।

35. रामलोचन शरण ''बिहारी'' : रामलोचन शरण ''बिहारी'' का जन्म मुजफ्फरपुर जिला के राघाउर गाँव में 1891 ई. में हुआ। ये जाति के साहू थे। व्याकरण-बोध, बाल-रचना, रचना-चंद्रोदय, राष्ट्रीय साहित्य (6 भाग), इतिहास-परिचय, मनोहर पोथी आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

36. चतुरसेन शास्त्री : चतुरसेन शास्त्री का जन्म सोनार परिवार में बुलंदशहर जिले के चांदौख नामक गाँव में 1891 ई. को हुआ था। उन्होंने नाटक, उपन्यास, जीवनी, संस्मरण आदि विभिन्न विधाओं में लिखा है। उनकी कोई 177 रचनाएँ हैं। वैशाली की नगरवधू, सोमनाथ, वयंरक्षामः, गोली, सोना और खून आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। उनके उपन्यास ''वयंरक्षामः'' का नायक राम नहीं बल्कि रावण है।

37. हवलदारी राम गुप्ता ''हलधर'' : हवलदारी राम गुप्त ''हलधर'' का जन्म 1894 ई. में हरिहरगंज (पलामू) में हुआ। इन्होंने ''रौनियार वैश्य'' तथा ''रौनियार बंधु'' नामक दो मासिक पत्रिकाओं का संपादन किया। इन्होंने 1928 में प्रमंडलीय रौनियार वैश्य सभा तथा 1951 में अखिल भारतीय रौनियार वैश्य महासभा का सभापतित्त्व किया। हिन्दी में इनकी कोई 25 पुस्तकें हैं। उपन्यास, नाटक आदि के अलावा इन्होंने ''पलामू का वृहत् इतिहास'' लिखा।

38. अनूपलाल मंडल : प्रसिद्ध कथाकार अनूपलाल मंडल का जन्म 1896 ई. में समेली, जिला पूर्णिया में हुआ था। ये जाति के कैवर्त थे और जातीय चेतना विकसित करने के लिए ''कैवर्त्त कौमुदी'' का संपादन किया करते थे। इनके कोई

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

16 उपन्यास हैं।

39. इंद्रजीतलाल कुटरियार : इंद्रजीतलाल कुटरियार का जन्म अकबरपुर (गया जिला) में 1899 ई. में हुआ। इन्होंने कोई एक वर्ष तक जातीय पत्रिका ''माहुरी मयंक'' के संपादन-कार्य में योगदान किया। इनकी रचनाएँ समाज-सुधार से सम्बन्धित हैं।

40. गंगाप्रसाद जायसवाल ''गंगा'' : गंगाप्रसाद जायसवाल ''गंगा'' ठठेरी बाजार (डुमराँव) के निवासी थे। इनका जन्म वैश्य परिवार में 1899 ई. में हुआ था। इनकी सात पुस्तकें प्राप्त हैं-राजपुरी ब्राह्मणों के नाम खुली चिट्ठी, मछली-मांस-निषेध आदि इनकी वर्णाश्रमी धर्म के विरुद्ध लिखी प्रमुख पुस्तकें हैं।

41. दुर्गेशनन्दन माणिक : दुर्गेशनन्दन माणिक का जन्म 1900 ई. में पुरानी गोदाम मुहल्ला (गया) में हुआ था। ये गया से प्रकाशित ''रौनियार-बंधु'' मासिक पत्रिका के सह-संपादक थे।

42. निर्गुणसिंह ''खाली'' : निर्गुणसिंह ''खाली'' का जन्म नीलकंठ टोला (थाना मनेर, जिला पटना) में हुआ। 1916 में मनेर स्कूल से ये मिडिल पास हुए। बिदेसिया नाच, यादव-श्राद्ध-संकेत, वर्णाश्रम विचारधारा, गोपायन, परिवर्तन (नाटक), अहीर और उपदेशक, लोरिकायन, भारत की स्वतन्त्रता और पिछड़ा वर्ग आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

43. ललई सिंह यादव : ललई सिंह यादव का जन्म 1911 ई. में जिला कानपुर के गाँव कठारा रेलवे स्टेशन झींझग के रहनेवाले गज्जू सिंह यादव के घर में हुआ। ये शोषितों के सच्चे मसीहा थे। उन्होंने - शोषितों पर धार्मिक डकैती, शोषितों पर राजनीतिक डकैती, अंगुलिमाल नाटक, शंबूक बध नाटक, एकलव्य नाटक, नाग यज्ञ नाटक, सामाजिक विषमता कैसे समाप्त हो - जैसी क्रान्तिकारी किताबों की रचना की।

44. यदुनन्दन प्रसाद मेहता : यदुनन्दन प्रसाद मेहता का जन्म कुशवाहा परिवार में पुराना शाहाबाद जिले के जितौरा गाँव के लाखनटोला में 18 फरवरी, 1911 को हुआ था। उन्होंने 1940 ई. में ''त्रिवेणी संघ का बिगुल'' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना की। उनकी अन्य पुस्तकें हैं - आगे बढ़ने की राहें, गाँव का सोना, आगे बढ़ो, कुशवाहा प्रकाश आदि। इसके अतिरिक्त उन्होंने ''शोषित पुकार'' नामक पत्रिका का संपादन भी किया।

45. महाराज सिंह भारती : महाराज सिंह भारती का जन्म 1918 ई. में उत्तर प्रदेश के मेरठ जनपद में हुआ था। ये जाति के जाट थे। रामस्वरूप वर्मा के ये निकट सहयोगी रहे और अर्जक संघ से जुड़े रहे। सृष्टि एवं प्रलय, ईश्वर की खोज, महान भारत के बौने नेता, पाप-पुण्य क्यों और कैसे, भारत का नियोजित दिवाला, जनतन्त्र की हत्या, कृषि क्रान्ति और किसान नेतृत्व, कमेरा हिन्दुत्व बनाम लुटेरा हिन्दुत्व, धर्म का धंधा आदि इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं।

46. फणीश्वरनाथ रेणु : फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म 4 मार्च, 1921 को बिहार प्रांत के पूर्णिया जिले के अन्तर्गत औराही हिंगना नामक गाँव में हुआ था। वे ओबीसी की धानुक जाति से आते हैं। मैला आँचल, परती परिकथा, दीर्घतपा, जुलूस, कितने चौराहे जैसे उपन्यास प्रमाणित करते हैं कि रेणु ग्रामीण आन्तरिक वास्तविकताओं को ओबीसी के परिप्रेक्ष्य में उठाने में समर्थ रहे हैं। ठुमरी, आदिम रात्रि की महक, अगिनखोर आदि उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं।

47. रामस्वरूप वर्मा : रामस्वरूप वर्मा का जन्म 1923 ई. में कानपुर के ग्राम गौरीकरन के एक कुर्मी परिवार में हुआ था। वे राममनोहर लोहिया के निकट सहयोगी और उनके वैचारिक मित्र थे। क्रान्ति क्यों और कैसे, ब्राह्मणवाद की शव परीक्षा, अछूत : समस्या और समाधान, ब्राह्मण महिमा क्यों और कैसे, मनुस्मृति राष्ट्र का कलंक, निरादर कैसे मिटे, अम्बेडकर साहित्य की जब्ती और बहाली, भंडाफोड़, मानववादी प्रश्नोत्तरी आदि रामस्वरूप वर्मा की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

48. आर. एल. चंदापुरी : आर. एल. चंदापुरी का जन्म 1923 ई. में पटना जिले के बसुहार गाँव में हुआ था। ये कुर्मी जाति से आते हैं। 1949 ई. में इन्होंने ''पिछड़ा वर्ग'' नामक हिन्दी साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन किया। ''भारत में ब्राह्मणराज और पिछड़ा वर्ग आंदोलन'' इनकी प्रमुख पुस्तक हैं।

49. विजयदान देथा : विजयदान देथा का जन्म 1926 में बोरुंदा (राजस्थान) के एक ओबीसी परिवार में हुआ था। उषा (काव्य-संग्रह), बापु के तीन हत्यारे (आलोचना), साहित्य और समाज (निबंध), महामिलन (उपन्यास) आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। पर वे मूलत : राजस्थानी साहित्य में अपने योगदान के लिए याद किए जाते हैं। चौदह खंडों में प्रकाशित ''बाताँ री फुलवारी'' राजस्थानी साहित्य में उनकी ख्यात कृति है।

50. राजेन्द्र यादव : राजेन्द्र यादव का जन्म 28 अगस्त, 1929 को उत्तर प्रदेश के आगरा में हुआ। वे ओबीसी के यादव परिवार से आते थे। राजेन्द्र यादव ने कहानीकार, उपन्यासकार, आलोचक एवं संपादक के रूप में विशेष ख्याति अर्जित की। देवताओं की मूर्तियाँ, खेल-खिलौना, जहाँ लक्ष्मी कैद है, अभिमन्यु की आत्महत्या, छोटे-छोटे ताजमहल, किनारे से किनारे तक, टूटना एवं चौखटे तोड़ते त्रिकोण उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। सारा आकाश, उखड़े हुए लोग, कुलटा, शह और मात, अनदेखे अनजान पुल, मन्त्र-विद्ध आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। ओबीसी से सम्बन्धित अनेक टिप्पणियाँ उनके द्वारा संपादित ''हंस'' के संपादकीय में दर्ज हैं।

51. कुमार विमल : हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक कुमार विमल का जन्म यादव परिवार में 12 अक्टूबर, 1931 को लखीसराय जिले के पचीना गाँव में हुआ था। मूल्य और मीमांसा, महादेवी वर्मा : एक मूल्यांकन, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, छायावाद

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन आदि उनकी प्रमुख आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। उनके ओबीसी से सम्बन्धित विचार उनकी पुस्तक ''साहित्येतर'' में मिलते हैं।

52. मुद्राराक्षस : मुद्राराक्षस हिन्दी के ऐसे पहले लेखक हैं, जिन्होंने अपना परिचय ओबीसी रचनाकार के रूप में दिया है। उनका जन्म 1933 ई. में ग्राम बेहटा (लखनऊ) के श्रमिक ओबीसी परिवार में हुआ था। उन्होंने नाटक, उपन्यास, आलोचना, इतिहास-सभी कुछ लिखा है। वे दलित, ओबीसी, जनजातियों तथा अल्पसंख्यकों के हितों के लिए अनवरत संघर्ष करते रहे हैं। आला अफसर, कालातीत, नारकीय, दंडविधान, हस्तक्षेप आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

53. मधुकर सिंह : मधुकर सिंह का जन्म पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में 2 फरवरी, 1934 को एक कुशवाहा परिवार में हुआ था। परन्तु वे मूल रूप से बिहार के भोजपुर जिले के गाँव धरहरा के निवासी थे। सबसे बड़ा छल, सीताराम नमस्कार, जंगली सुअर, उत्तरगाथा, अग्नि देवी, धरमपुर की बहू, अर्जुन जिन्दा है, नपुंसक, आचार्य चाणक्य, कथा कहो कुती माई, समकाल, बाजत अनहद ढोल आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। उनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं। पूरा सन्नाटा, भाई का जख्म, अगनु कापड़, पहला पाठ, पाठशाला, माई, पहली मुक्ति, हरिजन सेवक आदि उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

बहुजन दृष्टि से इतिहास-लेखन पर कुछ प्रश्न

गंगा सहाय मीणा

जब से हिन्दी साहित्य के इतिहास और आलोचना पर गम्भीर सवाल उठाये जाने लगे हैं तब से रचनाशीलता के पतन और 'आलोचना के संकट' की काफी चर्चाएँ हो रही हैं। सवाल यह है कि क्या वास्तव में हमारे समय में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ नहीं आ रही हैं और आलोचना किसी गहरे संकट में है या यह केवल साहित्य और आलोचना के जनतन्त्रीकरण से उपजा भय है? अगर आप ध्यान दें तो इस तरह की बातें तभी से अधिक हो रही हैं जब से हिन्दी में स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों आदि के रूप में उत्पीड़ित अस्मिताओं का लेखन और विमर्श आया है। मानो इससे पहले हिन्दी साहित्य और आलोचना में सब अच्छा चल रहा था!

साहित्य का इतिहास लेखन हो या रचना और आलोचना का सम्बन्ध, कृति और युग का मूल्यांकन दृष्टिबिन्दु से तय होता है, यानी कौन साहित्य इतिहास लेखक या आलोचक किस रचना और युग को कहाँ से देख रहा है, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आज जब हम एक लोकतांत्रिक समाज में रह रहे हैं और हमें अपनी बात कहने के पहले से अधिक अवसर उपलब्ध हैं, ऐसे में हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के चरित्र और उसके स्वरूप पर बात जरूरी हो जाता है। यह बातचीत इसलिए जरूरी है कि हिन्दी साहित्य, आलोचना-साहित्य इतिहास लेखन में कुछ ऐसी बातों पर मूक सहमति है जो स्वस्थ साहित्य और आलोचना के लिए बेहद खतरनाक हैं। कम-से-कम उन पर सवाल उठाने और उनकी पुनःपरीक्षा करने की तो जरूरत है ही। कहने को तो काफी लोग हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की बात करते हैं, लेकिन वास्तव में यह बातचीत वैसी ही है जैसी हिन्दी आलोचना की 'पहली' और 'दूसरी परम्परा' या फिर हिन्दी साहित्य के 'पहले' इतिहास के बरक्स (!) बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास।' दोनों ही मामलों में 'दूसरा' पद का प्रयोग जितना अलगाने के लिए किया गया है, वैसा कुछ अलग है नहीं वहाँ। 'आत्म' के बजाय अगर 'अन्य' के नजरिए से लिखा जाता तो कुछ 'दूसरा' बनने की सम्भावना बनती।

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

इस सन्दर्भ में सुमन राजे ने 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' लिखकर जरूर हिन्दी साहित्य इतिहास परम्परा के 'आत्मा' का अतिक्रमण कर अभी तक 'अन्य' तथा 'इत्यादि' रही आधी आबादी को आवाज देने का सार्थक प्रयास किया है।[1]

आधुनिक काल से पूर्व के हिन्दी साहित्य (आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल) का बड़ा हिस्सा धार्मिक, श्रृंगारपरक और वीर (?) गाथात्मक साहित्य से भरा है, जिसमें से अधिकांश का कोई सामाजिक सरोकार नहीं है। आज वह हमारे सामान्य -बोध का हिस्सा बन चुका है और हम उसके बिना हिन्दी साहित्य की कल्पना भी नहीं करते। दरअसल, हमने कभी हिन्दी के सेकुलर और प्रगतिशील साहित्य की अनिवार्यता ही महसूस नहीं की है। दक्षिणपंथियों को छोड़ भी दें तो स्वयं वामपंथी आलोचक और विद्वान तुलसीदास की तारीफ करते नहीं थकते और अपने लेखों-व्याख्यानों की शुरुआत तुलसी की चौपाइयों, दोहों से करते हैं। प्रतिक्रियावादियों की समझ है कि "जब समाज सामन्तवादी होगा तो साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप भी सामन्तवादी ही होगा, समाजवादी नहीं।"[2] यह समझ रखने वाले और अपने दायरे को हिन्दी तक सीमित रखने वाले तथा भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कर हिन्दी से सीधे अँग्रेजी में छलाँग लगाने वाले भूल जाते हैं कि हिन्दी के आदिकाल से एक हजार से भी अधिक वर्ष पहले इसी भारत में 'संगम साहित्य'[3] लिखा जा रहा था जो न केवल सेकुलर है बल्कि काफी समृद्ध भी है। स्वयं प्रेमचंद औपनिवेशिक भारत में होते हुए उसके विरोध में उसके बहुत आगे की कथा कह रहे थे। कार्ल मार्क्स की 'पूँजी' और मैक्सिम गोर्की की 'माँ' भी इस तर्क (!) का अतिक्रमण करती हैं।

हिन्दी साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने वालों के इस तरह के संस्कार निर्मित होने का एक पूरा इतिहास और समाजशास्त्र है। फ्रेंचेस्का ओरसिनी से शब्द उधार लेकर कहूँ तो हिन्दी साहित्य में शुरू से दो धाराएँ चलती रही हैं—एकमतपसन्द और बहुमतपसन्द। ओरसिनी का निष्कर्ष सही प्रतीत होता है कि हिन्दी साहित्य का इस तरह का चरित्र निर्मित होने का कारण इसमें एकमतपसन्द धारा का वर्चस्व होना है। एकमतपसन्द के बारे में बताते हुए ओरसिनी ने लिखा है—"चाहे किसी विषय पर अपना ही नजरिया सही क्यों न लगे, और नजरिये भी होते हैं, सम्भव होते हैं। नजरिये, विश्वास, नियम कुछ हद तक नम्र, लचीले और सशंक मालूम होने लगते हैं। पर कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनको यह बात मंजूर नहीं होती है : इनको मैंने एकमतपसन्द कहा है।"[4] जाहिर है इसकी विरोधी स्थिति बहुमतपसन्द है, यानी जिनको उपयुक्त बातें मंजूर होती हैं। हिन्दी में एकमतपसन्द धारा का वर्चस्व कुछ इस प्रकार रहा। हिन्दी का पहला पाठ्यक्रम[5] बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय[6] के हिन्दी आचार्यों द्वारा बनाया गया। वे सभी काशी नागरी प्रचारिणी सभा से आए थे और काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना 1893 में हिन्दी-उर्दू विवाद के दौरान हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बताने और बनाने के लिए हुई।

1837 में जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने यह फरमान जारी किया कि कचहरियों और सरकारी काम-काज की भाषा इलाकाई जबान होगी, तो सवाल उठा कि पश्चिमोत्तर प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) की इलाकाई जबान या प्रान्तीय भाषा कौन-सी है? सवाल सिर्फ उर्दू या हिन्दी के राजभाषा बनने तक सीमित नहीं था, बल्कि मूल बात थी सामुदायिक हितों की रक्षा की। यह सच है कि तब तक हिन्दी और उर्दू दोनों उतनी अलग भाषाएँ नहीं थीं जैसी आज हैं, लेकिन फिर भी फारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू मुसलमानों के लिए सहज थी, इसलिए हिन्दी को राजभाषा बनाए जाने से उनके सामुदायिक हित प्रभावित होने का खतरा था। यही स्थिति हिन्दुओं के साथ थी। हिन्दुओं को लगता था कि उर्दू और फारसी के ज्ञान से मुसलमान बिना किसी मेहनत के सरकारी महकमों के रास्ते आगे बढ़ेंगे और हिन्दू पिछड़ जायेंगे। सर सैयद अहमद खान ने उर्दू का दामन थामा और राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द', भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों ने हिन्दी का। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का समय इस रस्साकशी का गवाह रहा है।

उर्दू-हिन्दी विवाद के दौर में मामला नागरी लिपि से होता हुआ गोरक्षा से भी जुड़ गया और भाषा के मुद्दे का संप्रदायीकरण हो गया। उर्दू और हिन्दी के पक्ष में जिन संस्थाओं ने जन्म लिया, उनमें से अधिकांश सांप्रदायिक स्वरूप लिये हुए थे। नागरी प्रचारिणी सभा भी इसी दौर की उपज है। सभा के उद्देश्य थे—हिन्दी के ग्रन्थों को संकलित और प्रकाशित करना, हिन्दी में शब्द कोश बनाना, हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना और नागरी लिपि का प्रचार-प्रसार करना। इन उद्देश्य के पीछे यह भावना काम कर रही थी कि कैसे हिन्दी को उर्दू से पुरानी और समृद्ध साबित किया जाये ताकि वह पश्चिमोत्तर प्रान्त की राजभाषा बन सके। इस प्रक्रिया में सभा के लोगों ने हिन्दी साहित्य में हिन्दी की सहयोगी भाषाओं-बोलियों (अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि) की रचनाओं तथा धार्मिक रचनाओं को भी शामिल कर लिया। यह दिलचस्प है कि आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी साहित्य में इन सहयोगी भाषाओं-बोलियों की रचनाएँ शामिल की गयी हैं और आधुनिक काल में सिर्फ खड़ी बोली हिन्दी की रचनाएँ शामिल हैं, जबकि आज भी अवधी, ब्रज, भोजपुरी, राजस्थानी आदि में रचनाएँ हो रही हैं, लेकिन अब उन्हें हिन्दी साहित्य में शुमार नहीं किया जाता। अगर नागरी प्रचारिणी सभा के लोग हिन्दी साहित्य के इतिहास में सिर्फ खड़ी बोली हिन्दी की रचनाओं को शामिल करते तो उन्हें इस इतिहास को पीछे ले जाने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ती। यह हिन्दी साहित्य के इतिहास पर एक बड़ा सवाल है।

दूसरा सवाल धार्मिक साहित्य को लेकर है। तुलसीदास सहित तमाम भक्तकवि राम-कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते हुए रचनाएँ करते हैं, देश-भर में ये रचनाएँ प्रधानतः विभिन्न धार्मिक कर्मकांडों के मौके पर इस्तेमाल की जाती हैं।[7] पूरे उत्तर भारत में रामचरितमानस निर्विवाद रूप से एक धार्मिक रचना है। यह हिन्दी के साहित्य इतिहास

लेखकों और आलोचकों का हिन्दू संस्कार ही कहा जायेगा कि यही शुद्ध रूप से धार्मिक पुस्तक उनके अनुसार हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचना है और तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ कवि। इन्हीं तुलसीदास को स्थापित करने वाले रामचंद्र शुक्ल को हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है और इनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को सर्वश्रेष्ठ साहित्य -इतिहास। ये तमाम बातें दक्षिण से लेकर वाम तक के विद्वानों, आलोचकों के लिए कुरान की आयतों की तरह हैं। हिन्दी के अतिक्रांतिकारी विचारधारा वाले आलोचक भी ये कहते मिल जायेंगे कि तुलसीदास और रामचरितमानस, रामचंद्र शुक्ल और उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास के बिना हिन्दी साहित्य पढ़ा ही नहीं जा सकता। यह रचना और आलोचना का कैसा सम्बन्ध है? अब इस पर सवाल उठने लगे हैं तो 'आलोचना का संकट' कहकर उन सवालों को खारिज करने की कोशिश की जाती है।

हिन्दी की इस एकमतपसन्द धारा की विचारधारा को समझने के लिए एक उदाहरण देना जरूरी है। नागरी प्रचारिणी सभा और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रामचंद्र शुक्ल के सहयोगी श्यामसुन्दरदास ने कबीर का परिचय देते हुए लिखा है– ''मुसलमान घर में पालित होने पर भी कबीर का हिन्दू विचारों में सराबोर होना उनके शरीर में प्रवाहित होने वाले ब्राह्मण अथवा कम-से-कम हिन्दू रक्त की ही ओर संकेत करता है''[8] यह कौन सा वैज्ञानिक दृष्टिकोण था जिसके आधार पर श्याम सुन्दरदास कबीर के कविकर्म का मूल्यांकन करते हैं? कमोबेश यही दृष्टिकोण पूरी एकमतपसन्द धारा[9] का रहा है। कल्पना की जा सकती है कि इससे हिन्दी साहित्य व आलोचना को कैसी दिशा मिली होगी।

हिन्दी के इसी चरित्र पर टिप्पणी करते हुए कथाकार उदय प्रकाश ने लिखा है, ''हिन्दी-विभाग में शालिगराम, शैलेन्द्री जॉर्ज और राहुल की स्थिति एक जैसी थी। तीनों लाइब्रेरी जाते और हिन्दी साहित्य के सेक्शन में जाकर किताबों के लेखकों के नाम गिनते। किस जाति के कितने लेखक। पत्रिकाओं और जर्नल के हॉल में जाकर उन पत्रिकाओं में छपने वाले लेखकों और संपादकों की जाति देखते। जिन लेखकों-कवियों को पुरस्कार दिया जाता, उनकी और निर्णायकों की जाति को वे अंडरलाइन करते। हिन्दी से जुड़ी जितनी संस्थाएँ, अकादमियाँ आदि थीं, उनके पदाधिकारियों-कर्मचारियों की सूची बनाते। अखबारों और टीवी न्यूज चैनलों के संवाददाताओं, संपादकों, ब्यूरो चीफ और निर्माताओं के नामों पर गौर करते...सारे संसार में ऐसा कहीं नहीं होगा कि किसी एक जाति-समूह ने एक समूची भाषा का ऐसा अधिग्रहण किया हो।''[10]

पुनः फ्रेंचेस्का से शब्दों का सहारा लेकर कहना पड़ेगा कि 'हिन्दी की दुनिया में एकमतपसन्द शक्तियाँ अन्ततः प्रबल रहीं–चाहे पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यक संस्थाएँ, यहाँ तक कि काँग्रेस को ही क्यों न लें। वहाँ सबने एक ऐसी हिन्दीं को अपना लिया जो शुद्ध तो थी मगर न तो देसी थी और न हिन्दी दुनिया की विविधता को प्रकट करने वाली।'[11] आज यह विविधता प्रकट हो रही है–स्त्री, दलित, आदिवासी और अन्य पिछड़े तबकों की रचनात्मवक अभिव्यक्ति द्वारा। शुद्धतावादी एकमतपसन्द आग्रह इन अभिव्यक्तियों को तरह-तरह के मानक स्थापित कर खारिज करने की कोशिश कर रहा है, लेकिन नदी के बहाव की तरह जन-अभिव्यक्ति का सैलाब सारी बाधाएँ पार करता हुआ अपना रास्तान खुद बना रहा है।

ये हिन्दी साहित्य इतिहास-लेखन से जुड़े कुछेक सवाल हैं। बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। ऐसे और भी बहुत सवाल हैं जिन पर बात करना बहुत जरूरी है–हिन्दी साहित्य का एक मुकम्मल इतिहास लिखने के लिए। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम आत्मा-लोचन के रास्ते हिन्दी साहित्येसतिहास की तमाम समस्याओं पर तटस्थता से विचार करेंगे और सभी को साथ में लेते हुए हिन्दी का एक संपूर्ण साहित्येतिहास लिखने की साझी पहल करेंगे।

सन्दर्भ

1. दलित, आदिवासी और पिछड़ों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की कोशिश जारी है, एक मुकम्मल साहित्य इतिहास की दरकार बनी हुई है। उम्मीद है कि यह हिन्दी साहित्य के कई अँधेरे पक्षों को रोशनी में लाएगा और तभी हिन्दी साहित्य के इतिहास की पूरी तस्वीर (विविध आयामों के साथ) हमें दिखाई दे सकेगी।
2. समन्वय के बजाय, जनसत्ता, 18 दिसम्बर 2011 http://www. jansatta.com/index. php\option=(com_content-task=view-id= 6836-Itemid)
3. तमिल का साहित्यिक आन्दोलन http://en.wikipedia.org/wiki/Sangam_literature
4. http://www.sarai.net/publications/deewan-e-sarai/01-media-vimarsh-hindi-janpad/ 015_029francesca.PDF
5. व्यवस्थित पाठ्यक्रम। इससे पहले हिन्दी पढ़ाई जाने लगी थी, लेकिन उसका रूप अनिश्चित था और प्रभाव-क्षेत्र सीमित।
6. विश्वविद्यालय के संस्थापक मदनमोहन मालवीय को फ्रेंचेस्का ओरसिनी ने एकमतपसन्द धारा का प्रतिनिधि कहा है।
7. यहाँ कबीर और अन्यय सन्त कवियों की रचना को उनसे अलगाना होगा, क्योंकि उनका लक्ष्य पंथ स्थापित करना नहीं था, न ही वे अपनी रचनाओं को 'गुरु ग्रन्थ साहब' में शामिल करवाना चाहते थे। कबीर की रचनाओं का धार्मिक इस्तेमाल त्रासद ही कहा जायेगा।
8. देखें– कबीर ग्रन्थावली-श्याशमसुन्दरदास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ -19
9. 'एकमतपसन्द धारा' और 'बहुमतपसन्द धारा' के बारे में फ्रेंचेस्का ने एक सीमित समयावधि के सन्दर्भ में विचार किया है, इन पर विस्तृहत अध्ययन अपेक्षित है।
10. 'पीली छतरी वाली लड़की', पृष्ठ-136, वाणी प्रकाशन, 2009
11. फ्रेंचेस्का ओरसिनी, http://www.sarai.net/publications/deewan-e-sarai/01-media-vimarsh-hindi-janpadè015_029francesca.PDF

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

इतिहास-लेखन की परम्परा और बहुजन-दृष्टि

विशेष राय

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि जिस दौर में हम साहित्य के इतिहास पर संवाद कर रहे हैं, ठीक उसी दौर में इतिहास के अन्त की घोषणा की जा रही है। इससे एक बात तो तय हो जाती है कि इतिहास जरूरी चीज है। इतिहास की जरूरत उन उत्पीड़ित तबकों को सबसे ज्यादा है, जिन्हें अब तक इतिहास के दरवाजे से भी दूर रखा गया है। चुनांचे वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा जहाँ एक तरफ इतिहास के अन्त की घोषणा की जा रही है, वहीं दूसरी तरफ ऐतिहासिक तथ्यों की गलत बयानी भी खूब हो रही है। इससे यह साफ हो जाता है कि इतिहास गढ़न है, जिसे इतिहासकार गढ़ता है और यह भी कि इतिहास कोई अमूर्त या दैवीय वस्तु नहीं है। दरअसल, इतिहास-लेखन का सवाल हमारी जरूरत से जुड़ा है। इतिहास-लेखन की जरूरत से ही इतिहासकार का नजरिया तय होता है।

हिन्दी साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के साथ ही साहित्य और साहित्य इतिहास के प्रतिमान भी निर्धारित किए। आगे के इतिहासकारों के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास और उनके बनाए प्रतिमान कसौटी साबित हुए। आज भी आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहास, साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण किन्तु विवादित ग्रन्थ बना हुआ है। साहित्य की बहुजन-दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का किया गया अध्ययन हिन्दी साहित्य के इतिहास और उसके प्रतिमानों को खारिज करता है और इतिहास के पुनर्लेखन की माँग करता है। दरअसल, समाज पर काबिज लोग इतिहास से छेड़छाड़ किया करते हैं। वर्षों बाद जनता इतिहास की दिशा और दशा तय करती है।[1] आज दलित, आदिवासी, स्त्री इतिहास की दिशा और दशा तय कर रहे हैं। दरअसल साहित्य की समझ एवं इतिहास-चेतना में गहरा सम्बन्ध होता है। जब हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य सम्बन्धी समझ और इतिहास-चेतना का अध्ययन करते हैं तो, हम देखते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब मानते हुए कहते हैं : ''जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है''।[2] -आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिस जनता की बात करते हैं, वह 'शिक्षित जनता' है। यह है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य सम्बन्धी समझ एवं उससे निर्मित हो रही उनकी इतिहास चेतना। इस इतिहास-चेतना के आधार पर अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सिद्ध-नाथ साहित्य को वह 'अशिक्षित जनता' का 'सांप्रदायिक साहित्य' कहते हुए, घोषणा करते हैं : ''अतः वे शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आतीं।''[3]

वास्तव में यह हाशिए के लोगों की आवाज थी जो वर्ण-व्यवस्था की मुखालफत कर रही थी। सिद्धों-नाथों ने बड़ी मुखरता से वर्ण-व्यवस्था की आलोचना की और यह मुखरता ही उनकी उपेक्षा का कारण बनीं। सिद्धों-नाथों के साहित्य को नकारकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चार्वाकों के समय से चली आ रही प्रतिरोध की धारा को उपेक्षित करने के साथ ही साहित्य और उसके इतिहास में 'अशिक्षित जनता' की आमद ही बन्द कर दी। रही-सही कसर उनके कबीर, रैदास इत्यादि मध्यकालीन शूद्र-अतिशूद्र सन्तों के अध्ययन ने पूरी कर दी। निर्गुण आन्दोलन की परम्परा पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—''इस प्रकार के सन्तों की परम्परा यद्यपि बराबर चलती रही थी, और एक नये पंथ निकलते रहे, पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा।''[4] जबकि सच्चाई यह है कि सिद्ध-नाथ साहित्य के साथ ही सन्त-साहित्य भी प्रतिरोध की बहुजन परम्परा का हिस्सा है। ये सन्त एक ओर वर्ण-व्यवस्था की कड़ी आलोचना प्रस्तुत कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर अपनी पहचान के साथ कविता कर रहे थे। ऐसी पहली बार हुआ था। इस समय की कविता वर्ण-व्यवस्था विरोधी होने के साथ ही स्वत्व के पहचान की भी कविता है। कबीर साफ-साफ कहते हैं—''तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा''[5] रैदास भी उद्घोष करते हैं— "कह रैदास खलास चमारा।''[6]

क्या कारण है कि तमाम मध्यकालीन शूद्र-अतिशूद्र निगुर्ण सन्त अपनी पहचान और पेशे का खुलकर वर्णन करते हैं और उतनी ही चालाकी से हिन्दी आलोचना उनकी जातियों के बारे में भ्रम पैदा करती है? इस ओर इशारा करते हुए जबरीमल्ल पारख कहते हैं— ''कबीर के काव्य में बार-बार उनके द्वारा इस बात का उल्लेख किया जाना कि वे जाति के जुलाहे हैं, आकस्मिक नहीं है। वस्तुतः यही वह केन्द्रीय चीज है जो कबीर के काव्य को खास स्वरूप प्रदान करती है।''[7]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में भले ही 'शिक्षित जनता' के 'सामान्य

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

साहित्य' पर भले ही इस सन्त परम्परा का कोई प्रभाव न रहा हो किन्तु सामान्य जनता पर इनका खासा प्रभाव था। के. दामोदरन के अनुसार– ''यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य फिर वे उँची जाति के हों अथवा नीची जाति के समान हैं, इस आन्दोलन का ऐसा केन्द्रीय बिन्दु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति-प्रथा के आंतक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया।''[8]

इस तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक तरफ प्रतिरोध की शूद्र-अतिशूद्र परम्परा को नकारते हैं (यह नकार ही आगे हिंदी आलोचना में दलित-बहुजन साहित्य के नकार का मूल कारण बना), वहीं दूसरी तरफ वर्ण-व्यवस्था के समर्थक तुलसीदास को भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि के रूप में स्थापित करते हैं। पीछे बताया गया था कि इतिहास की जरूरत से ही इतिहासकार का नजरिया तय होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिस दौर में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे, वह दौर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का दौर है, जो उनके इतिहास-लेखन पर हावी रहा है। इस बात की तस्दीक आलोचक नीलकांत भी करते हैं–''...क्योंकि नवजागरण काल का वह दौर जिसमें आचार्य शुक्ल इतिहास का दर्शन लिख रहे थे, वे सारी प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर प्रवेश पा चुकी थीं।''[9]

आचार्य शुक्ल जिस समय इतिहास लिख रहे थे, वह आजादी का दौर था। तमाम अवरोधों के बीच दलित-प्रश्न राष्ट्रीय स्तर पर उभरने लगा था। उ.प्र. में स्वामी अछूतानन्द का आदि हिन्दू आन्दोलन चरम पर था। प्रेमचन्द्र अपने उपन्यास-कहानी में दलित मुद्दों को प्रमुखता दे रहे थे। गाँधीवादी व आर्यसमाजी लेखक भी दलितों पर सहानुभूतिपरक काव्य लिख रहे थे। दलित-पिछड़े स्वयं आत्माभिव्यक्ति कर रहे थे। ऐसे समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपना इतिहास ग्रन्थ लिखते हैं और साहित्य के इतिहास के प्रतिमान गढ़ने के क्रम में पूरी-की-पूरी बहुजन परम्परा को नकार देते हैं। वह दौर साहित्य में यथार्थवाद की वकालत का दौर था। जो यथार्थवादी उपन्यासकार अपने उपन्यासों में जमींदारों के शोषण को उजागर कर रहे थे, उनके बारे में आचार्य शुक्ल की राय गौरतलब है–''तअल्लुकेदारों के अत्याचार, भूखे किसानों की दारुण दशा के बड़े चटकीले चित्र उनमें प्रायः पाये जाते हैं।'' और–"जमींदारों के अन्तर्गत हमें 98 प्रतिशत साधारण जमीदारों को लेना चाहिए, 2 प्रतिशत बड़े-बड़े तअल्लुकेदारों को नहीं।''[10] देशी-विदेशी शोषण की चक्की में पिस रहे मजदूरों के बारे में आचार्य शुक्ल लिखते हैं–"नगरों के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गाँव के जमींदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं।''[11] आचार्य शुक्ल के इस वक्तव्य से मुझे प्रेमचन्द के गोदान का वह प्रसंग याद आता है, जहाँ जमींदार साहब होरी को अपना दुःख सुनाते हैं।

तो यह है आचार्य शुक्ल की साहित्य और इतिहास-दृष्टि। यह बहुजन-दृष्टि के ठीक विपरीत है। यह अन्तर दरअसल सिर्फ आचार्य शुक्ल व बहुजन-दृष्टि के बीच का ही नहीं है, यह कबीर-तुलसी के बीच का भी है और डॉ. अम्बेडकर और महात्मा गाँधी के बीच का भी। जब दलित अपनी खोई मनुष्यता प्राप्त करने के लिए साहित्य से लेकर राजनीति के क्षेत्र में लामबन्द हो रहे थे तब आचार्य शुक्ल 'क्षात्र धर्म का सौन्दर्य', बखानते हुए, उसके पतन की दुहाई दे रहे थे ''राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गये। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना अधिक विस्तृत कर देने से ब्राह्मण धर्म और छात्र धर्म दोनों का लोप हो गया, केवल वणिकधर्म रह गया।''[12]

आचार्य शुक्ल इतने पर ही नहीं रुकते, लगभग आदेशात्मक भाषा में कहते हैं–''लोक-व्यवस्था के भीतर कुछ विशेष वर्ग के लोग जैसे– शिष्ट, विद्वान, धर्म चिन्तक, शासन कार्य पर नियुक्त अधिकारी, देश रक्षा में प्राण देने को तैयार वीर इत्यादि औरों से अधिक आदर और सम्मान के पात्र होंगे। इनके प्रति उचित सम्मान न प्रदर्शित करना अपराध है। अन्य वर्ग के लोग धर्मानुसार इन्हें बड़ा मानने के लिए विवश हैं।''[13]

इस तरह आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास गढ़ने के क्रम में निष्पक्ष नहीं रह पाते और साहित्य की दलितधारा को नकार देते हैं। आचार्य शुक्ल साहित्य के जिन प्रतिमानों को संस्कृत काव्यशास्त्र की सहायता से गढ़ते हैं, दलित दृष्टि सीधे उनकी मुखालफत करती है। आगे के इतिहासकार और आलोचक कमोबेश आचार्य शुक्ल की धारणाओं के इर्द-गिर्द ही अपने इतिहास का ढाँचा खड़ा करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल की कुछ मान्यताओं से टकराते हैं, वे हिन्दी साहित्य के 'आरंभिक काल' को 'आदि काल' कहते हैं। भक्ति काल को 'हताश जाति' की प्रतिक्रिया के रूप में न देखर 'भारतीय चिन्तनधारा के स्वाभाविक विकास के रूप में देखते हैं' और कबीर को विशेष महत्त्व देते हैं। गौरतलब है कि कबीर इत्यादि निर्गुण सन्तों का साहित्य, साहित्य में वर्ग-संघर्ष है, मुक्तिबोध यही इंगित करने का प्रयास कर रहे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिसे 'हताश जाति' का साहित्य कह रहे थे, कबीर, रैदास इत्यादि शूद्र-अतिशूद्र उस कोटि में नहीं आते। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जिसे 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास कह रहे थे, ये सन्त सीधे-सीधे उस धारा की मुखालफत करते हैं। पहली बात तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास की यह धारणा ही गलत प्रतीत होती है। कोई भी विकास अनवरत नहीं होता। उसमें उतार-चढ़ाव आते हैं। दरअसल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह व्यवस्था ग्रियर्सन के मत कि 'भक्तिकाल अचानक बिजली की चमक के समान फैला' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत कि यह 'हताश जाति का साहित्य है', के विरुद्ध थी।

दरअसल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इस व्याख्या के गहरे अर्थ हैं। चिन्तन की जिस स्वाभाविक धारा की बात हजारीप्रसाद द्विवेदी करते हैं, दरअसल वह चिन्तन की ब्राह्मणवादी धारा है। इस धारा की अक्षुण्णता को बनाए रखने के लिए आचार्य

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रियर्सन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से टकराते हैं। वरना साहित्य के इतिहास में तुलसी आज भी महान कवि बने हुए हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास निर्विवाद रूप से मान्य। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी तुलसीदास को भारत का लोकनायक मानते हैं, जबकि सन्त काव्य के बारे में सच्चाई यह है कि– ''मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक लम्बा जीवनकाल सन्तकाव्य का है। सधना, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन जैसे सन्त कविजन हिन्दी साहित्य में उपस्थित थे तब कृष्णकाव्य और रामकाव्य के सर्वाधिक तेजस्वी कवि सूरदास और तुलसीदास का जन्म भी नहीं हुआ था।''[14]

इतिहास में दो धाराएँ विद्यमान रही हैं। अभी तक का इतिहास केवल एक धारा पर ही विचार करता आया है। दूसरी धारा या तो उनमें से नदारद है या छेड़छाड़ के साथ प्रस्तुत की गयी है। सच्चाई है कि भारतीय समाज बहुजनों के बारे में जिस तरह की सामन्तवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं, हिन्दी साहित्य उससे अलहदा राय नहीं रखता। क्या कारण है कि दलित कविता की नोटिस ''कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है।''[15] कहने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ली और न ही 'कविता के नये प्रतिमान' तलाशने वाले मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह ने। मैनेजर पाण्डे ठीक ही कहते हैं–''ये आश्चर्यजनक है खासतौर से अगर आप प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता या नयी कहानी अकहानी आदि की प्रवृत्तियों को देखें तो उसमें कितनी जगह है दलितों के लिए?''[16]

दरअसल, हमारे सामने जो इतिहास उपलब्ध है, वह अपर्याप्त तथ्यों तथा एकांगी दृष्टि के साथ लिखा गया है। क्या हम ऐसे ही अपर्याप्त तथ्यों के आधर पर गढ़े गये इतिहास का मूल्यांकन करते रहेंगे या अनुपलब्ध और मिटा दिए गये तथ्य भी खोजेंगे? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'कबीर का पंथ चल निकला', दादूपंथ' के नाम से भी पंथ बना। धर्मदास ने 16वीं शताब्दी में गलता में गद्दी स्थापित की। जगजीवन दास 1818 ई. के लगभग विद्यमान थे, उनके भी अनेक शिष्य हुए। अभी तक इन पंथों का साहित्य नहीं मिल पाया है। हमारे सामने उपलब्ध साहित्य है और हमें अनुपलब्ध साहित्य को भी खोजना होगा। वर्ण-व्यवस्था का इतिहास जितना पुराना है, उतना पुराना इतिहास उसके प्रतिरोध का भी है। प्रतिरोध की इस परम्परा की जो कड़ियाँ गायब हैं, यदि उन्हें ढूँढ़ा जाये तो और भी तथ्य सामने आयेंगे। अभी तक के इतिहासकार अपने भण्डार ग्रह से जरूरी चीजों को निकालते रहे, और उन्होंने बाकी पर ध्यान नहीं दिया। यहाँ सवाल किसी को साबित या खारिज करने का नहीं, बल्कि इतिहास की सही समझ और उसके सही इस्तेमाल का है। आज हिन्दी साहित्य के इतिहास का बहुजन दृष्टि से पुनर्लेखन किए जाने की आवश्यकता है। इसके लिए साहित्य और आलोचना के प्रतिमानों को बदलने की जरूरत है। इस क्रम में जहाँ पुराने साहित्य का फिर से मूल्यांकन सम्भव होगा, वहीं दूसरी ओर आधुनिक परिदृश्य में उभरे दलित-साहित्य को भी उसकी वास्तविक महत्ता भी इसी में मिलेगी। दरअसल तकाजा साहित्य और उसके इतिहास के जनतांत्रिकरण का है चुनांचे सिर्फ दलित ही नहीं आदिवासी, स्त्री व अन्य उपेक्षित दृष्टियों से भी हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार किए जाने की जरूरत है। मेरे तईं यह काम शुरू हो चुका है। तमाम अस्मितावादी विमर्श आज हिन्दी साहित्य व उसके इतिहास पर फिर से विचार कर रहे हैं और उसके पुनर्लेखन पर जोर दे रहे हैं।

सन्दर्भ

1. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 69
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण-2008, पृ. 21
3. वही, पृ. 32-33
4. वही, पृ. 74
5. सं.-डॉ. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008, पृ. 24
6. सं–डॉ. शुकदेव सिंह, रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.44
7. सं. परमानन्द श्रीवास्तव, कबीर पुनर्पाठ/पुनमूल्यांकन, अभिव्यक्ति प्रकाशन संस्करण 2001, पृ. 145
8. के. दोमोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा (अनुवाद-जी.श्रीधरन) , नयी दिल्ली, संस्करण 2001, पृ. 327
9. नीलकान्त, रामचन्द्र शुक्ल : नया दृष्टिकोण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010, पृ. 52
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 381
11. वही
12. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि (भाग-3) सं–नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 188
13. नीलकान्त, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नया दृष्टिकोण, पृ. 63
14. राजेन्द्र प्रसाद सिंह–हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, पृ. 64
15. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, (पहला भाग), ए. टू. जेड. पब्लिकेशन, इलाहाबाद, संस्करण 2001, पृ. 201
16. सं. सर्वेश कुमार मौर्य, साहित्य और दलित-दृष्टि, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 22

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

हिन्दी स्त्री-कविता : रिक्त स्थानों की पूर्ति

सुनीता गुप्ता

दिनकर ने बड़े गर्व से 'उर्वशी' में लिखा—''इसीलिए इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के/ हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।'' बिना यह सोचे कि इतिहास की इस उपेक्षा का कितना बड़ा दंश स्त्री को भुगतना पड़ा। इतिहास के साथ-साथ वह जीवन से भी उपेक्षित होती चली गयी। उसकी इस उपेक्षा के पीछे कहीं तो इतिहास के निर्माण में स्वयं उसकी अल्पसंख्यक उपस्थिति रही, किन्तु जहाँ वह उपस्थित थी भी, वहाँ उसकी इस उपस्थिति को दर्ज ही नहीं किया गया। सुमन राजे जब लिखती हैं—''अपने समय और साहित्य में मौजूद रहने पर भी उपस्थिति का साक्ष्य इतिहास में दर्ज होकर ही मिलता है, और सच यह भी है कि सबसे अधिक छल स्त्रियों के साथ इतिहास में ही किया गया है।...हम अपने अनुभव से जानते हैं कि उपेक्षा से मारक कोई अस्त्र नहीं होता।''[1] तो इसके पीछे यही दंश का भाव है।

मानविकी विभाग में इतिहास को सबसे अधिक व्यष्टिपरक माना गया है तो इसलिए कि यह जिन तथ्यों के आधार पर अपनी अवधारणाएँ बनाता है उन तथ्यों के संकलन और विश्लेषण में व्यक्तिगत वैचारिक आग्रह महती भूमिका निभाते हैं। इतिहास की कोई स्वायत्त सत्ता नहीं होती, यह एक अवधारणा है और इसके निर्माण में उन तथ्यों और प्रमाणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जो विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किये जाते हैं। किन्तु यह भी सच है कि तथ्यों का संकलन मात्र इतिहास नहीं होता। इतिहास का स्वरूप इन तथ्यों पर भी निर्भर करता है कि इनमें से किन्हें चुना और महत्त्व दिया गया है। यही नहीं, चुने हुए तथ्यों की व्याख्या पर भी व्यक्तिगत आग्रह और दुराग्रह हावी होते रहे हैं। ये ही चीजें इतिहास को व्यष्टिपरक बना देती हैं।

नयी सदी हाशिये पर पड़े लोगों के अभ्युत्थान की सदी है। विभिन्न अस्मितायें अपनी जगह बनाते हुए अपनी परम्परा का पुनराख्यान प्रस्तुत कर रही हैं। ऐसे में इतिहास द्वारा उपेक्षित स्त्री पर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। धर्म हो, संस्कृति हो,

परम्परा हो या इतिहास— ये पितृसत्तामक समाज द्वारा विनिर्मित हैं। यही कारण है कि इनकी अवधारणायें और मूल्य पुरुष के पक्ष में जाती हैं। अमूमन इतिहास पर प्रभुत्व वर्ग अपनी कुंडली जमा लेता है। वह अपनी सुविधानुसार तथ्यों को बीनता और व्याख्यायित करता है। यही कारण है कि हाशिये के लोग इतिहास से छूट जाते हैं।

स्त्री को बाहरी जगत से बेदखल करने में पुरुष समर्थ हुआ जिसका नतीजा यह हुआ कि इतिहास के अक्षर भी उसी के हिस्से पड़े। इतिहास में स्त्री की दस्तक उपेक्षित होती चली गयी। यही स्थिति साहित्य की भी है जहाँ स्त्री की उपस्थिति को पुरुष रचनाकारों द्वारा नकारा जाता रहा है। यह सब अनायास नहीं हुआ। इसके कारणों का अनुसंधान हमें उस दिशा में ले जायेगा जहाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की साजिशों की परत-दर-परत बिछी हुई है। जहाँ स्त्री को व्यक्ति का दर्जा ही नहीं दिया गया— वहाँ उसकी अभिव्यक्ति भला कैसे महत्त्व पा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि उसके हस्तक्षेप को लगातार नकारा गया।

यह पितृसत्ता की अनिवार्य परिणति है कि एक छद्म आम सहमति के तहत स्त्री की उपेक्षा की गई। स्त्री के लिखे हुए को इस योग्य समझा ही नहीं गया कि उस पर विचार किया जा सके। डॉ. सुमन राजे अपने 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में इसी ओर इंगित करती हुई लिखती हैं— ''ज्यों-ज्यों आधे इतिहास का लेखन गति पकड़ता गया, यह धारणा पुख्ता होती चली गयी कि पुरुष इतिहासकारों ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुआ हो, ऐसी बात नहीं, यह अन्याय विमुख रहकर किया गया है।''[2]

स्त्री भी मनुष्य है, उसकी भी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और स्वप्न हैं, हर्ष, उल्लास और उन्माद है, प्रेम, घृणा और क्रोध है, यातना, दर्द और आंसू हैं। नदी की जल राशि की भाँति भाव भी अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ ही लेते हैं। स्त्री के भावों का संसार भी अभिव्यक्त होता रहा— कभी लोकगीतों में, कभी भक्ति की ओट में, कभी सुधारवादी आन्दोलनों से जुड़कर, कभी राष्ट्रवाद में और कभी प्रकृति और परिवेश से सम्पृक्त होकर।

स्त्री-लेखन की कड़ियाँ इतनी बिखरी हुई हैं कि क्रमिक विकास की रूपरेखा बनाने के लिए उन्हें सप्रयत्न जोड़ना अनिवार्य हो जाता है। स्त्री-साहित्य की अनुप्लब्धता, स्त्री-साहित्यकारों से सम्बन्धित जानकारियों का अभाव व स्त्री साहित्य पर साहित्येतिहास लेखकों की चुप्पी— ये वे रोड़े हैं जो स्त्री-लेखन के मूल्यांकन की राह में अवरोध बनकर खड़े हैं। साहित्य के इतिहास में स्त्री नामों का अंकित न होना और जो नाम अंकित भी हैं, उनकी रचनाओं का उपलब्ध न होना इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा थी। इतिहास ग्रन्थ ही नहीं, अधिकतर पुस्तकालयों में भी स्त्री-रचनाकारों की रचनाएँ एक सिरे से गायब हैं। सामग्री के नाम पर कुछ गिनी-चुनी पुस्तकें ही उपलब्ध हैं।

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

इनमें स्त्री-रचनाकारों पर पहली बार दृष्टि डालने वाले मुंशी देवीप्रसाद की 'महिला मृदुवाणी', गिरिजा दत्त शुक्ल की 'हिन्दी काव्य की कोकिलाएँ', ज्योति प्रसाद निर्मल की 'स्त्री कवि कौमुदी', डॉ. सावित्री सिन्हा की 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ', डॉ. सुमन राजे का 'बीसवीं सदी का हिन्दी महिला लेखन' तथा जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह की 'स्त्री काव्य धारा' प्रमुख हैं। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-रचनाकारों के योगदान के आकलन का एक सार्थक और प्रशंसनीय प्रयास डॉ॰ सुमन राजे द्वारा उनके 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में हुआ है जो इस तरह की अकेली पुस्तक है। यह पुस्तक भी उपेक्षा की शिकार हुई और इसे जितना महत्त्व मिलना चाहिए था उतना नहीं मिला। सुमन राजे का मानना है कि स्त्री-लेखन के आकलन के बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास 'आधा' अर्थात अधूरा है। डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने 'मध्यकालीन साहित्य विमर्श' पुस्तक में मध्यकालीन स्त्री-लेखन के आकलन का सराहनीय प्रयास किया है। वर्तमान में रोहिणी अग्रवाल कथा-साहित्य के विश्लेषण की दिशा में लगातार लेखन कर रही हैं। 'स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प' में मीरा के साथ स्त्री-रचनाकारों की कहानियों का लेखिका ने स्त्री-दृष्टि से आकलन किया है। 'हिन्दी उपन्यास का स्त्री पाठ' तथा 'हिन्दी कहानी : वक्त की शिनाख्त पर सृजन का राग' रोहिणी अग्रवाल की दो नवीनतम आलोचना पुस्तकें हैं। रोहिणी अग्रवाल मुख्यतः आलोचक हैं पर उनकी दृष्टि इतिहासपरक है और इस रूप में उनका लेखन साहित्येतिहास लेखन की भी सामग्री बन जाता है।

स्त्री-लेखन की परम्परा की जड़ें सुदूर अतीत में वैदिक ऋचाओं से जाकर जुड़ती हैं। निर्विवाद रूप में वैदिक ऋषिकाओं द्वारा रची गयी सूक्तियाँ स्त्री-लेखन का आदिम स्वरूप हैं। इन सूक्तियों में स्त्री का आत्मविश्वासपूर्ण तेजोदीप्त स्वर तो मिलता है पर इसकी सामाजिक पृष्ठभूमि बहुत स्पष्ट नहीं है।

आगे चलकर बौद्ध ग्रन्थों में थेरीगाथा के अन्तर्गत थेरियों की रचनाओं के रूप में स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य मिलता है। यह बौद्ध धर्म ही था जिसने सर्वप्रथम दलितों और स्त्रियों को मनुष्यत्व का दर्जा दिया। थेरीगाथा के अन्तर्गत लगभग सौ थेरियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें राजकुल, सामन्त वर्ग, श्रेष्ठी या वणिक समुदाय, श्रमिक व वारांगना कुल के साथ दलित वर्ग की स्त्रियाँ भी हैं।

इन थेरियों की रचनाओं में सामाजिक शृंखलाओं की कड़ियों की झंकार स्पष्ट रूप से सुनी जा सकती है। प्रवज्या ग्रहण करना एक पारम्परिक राह नहीं थी। प्रवज्या ग्रहण करने के पीछे उन सामाजिक दबावों या दुःखों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी जिसके तहत जीना इतना दुश्वार हो गया कि जीवन से ही विराग हो गया। सुख इतना दुर्लभ था कि इसकी खोज बौद्ध धर्म की शरण में ले गयी। बुद्ध के उपदेशों से उन्हें दुःख का कारण समझने की दृष्टि प्राप्त हुई। इस ज्ञान के आलोक में उन्होंने अपने वर्तमान को अतीत के सन्दर्भ में देखने का यत्न किया। यही कारण है कि थेरियों की गाथाओं में स्मृति के रूप में उनका अतीत बार-बार उपस्थित होता है जिनसे उनके दुःखों व कष्टों की रूपरेखा बनती है।

स्त्री-साहित्य का अगला पड़ाव सदी के प्रारम्भ का प्राकृत तथा संस्कृत लेखन है। 'गाथा सप्तशती' में सोलह कवयित्रियों की रचनाओं का उल्लेख मिलता है। इस कालावधि में संस्कृत में कतिपय स्त्री-रचनाएँ प्राप्त होती हैं। यहाँ तक कि अपभ्रंश काल में भी अपभ्रंश में न सही, किन्तु संस्कृत में स्त्री-रचनाकारों की रचनाएँ मिलती हैं, यद्यपि ये विवेच्य विषय की सीमा में नहीं आतीं।

पालि में रचित थेरियों की गाथाओं के लम्बे अन्तराल के बाद मध्यकाल आता है जिसे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तिगत पहचान के आधार पर डॉ॰ सुमन राजे ने अपने 'हिन्दी साहित्य के आधा इतिहास' में तृतीय नवजागरण माना है। इससे पहले बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के दौर को वे प्रथम भारतीय नवजागरण और ईस्वी सदी के प्रारम्भ के सांस्कृतिक परिदृश्य को द्वितीय नवजागरण की संज्ञा देती हैं जिसका आधार वे उस नवीन चेतना को बनाती हैं जो अपने समय के अवरोधों को पार कर एक नये युग के सूत्रपात का आधार निर्मित करती है और जिसके परिणामस्वरूप रचना केन्द्रों में व्यापक फेर-बदल होता है। इस रूप में समूचे मध्यकाल को अपने पूर्ववर्ती व परवर्ती युग से अलगाने वाली जो चेतना है वह है भक्ति व अवतार की भावना और इसके कारण रचना केन्द्र में दलित व वंचित समुदाय आ जुड़ते हैं।

दलित व स्त्री— ये समुदाय भारतीय जन-मानस में सदैव से उपेक्षित और निरादृत रहे हैं। इनकी उपस्थिति को समाज में स्वीकार ही नहीं किया गया। इनका अस्तित्व दूसरों की जरूरतों को पूरा करने के लिए था। अपने अस्तित्व के नकार ने इनको व्यक्तिविहीन बनाया और अपने व्यक्तित्व व अस्मिता के स्वीकार के बिना लेखन सम्भव ही नहीं है। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन ने इनमें आत्मविश्वास भरा और आभिजात्य और कुलीन वर्ग से इतर बड़ी संख्या में व्यवसाय व दस्तकारी से जुड़े लोगों, दलितों व स्त्रियों द्वारा लेखन सम्भव हुआ।

मध्यकाल में भारतीय जनमानस कई प्रकार के आलोड़नों से गुजरता है और तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियाँ नवीन चेतना के निर्माण का आधार बनती हैं। यही वह समय है जब संस्कृत के वर्चस्व को तोड़कर नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ आकार ग्रहण करने लगती हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ आर्थिक स्थितियाँ भी बदलती हैं और शिल्पकारों की माँग बढ़ती है। इरफान हबीब ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य को पुष्ट किया कि इन शिल्पकारों के जीवन में आर्थिक समृद्धि भी आयी थी। गैर-सवर्ण समाज में स्त्री सदैव एक उपयोगी श्रम के शक्ति के रूप में रही है। नवीन परिस्थितियों में इस स्त्री-श्रम की माँग बढ़ी और उनकी आर्थिक दशा में सुधार भी हुआ। निश्चय ही इन नवीन परिस्थितियों ने उन्हें आत्मविश्वास से दीप्त किया। इन परिस्थितियों के आलोक में देखा जा सकता है

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

कि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन में फूट पड़ने वाला दलित व स्त्री का स्वर अनायास नहीं है। 'वीमेंस राइटिंग इन इंडिया' में सुसी थारू लिखती हैं कि भक्ति आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी देखकर यह अनुमान करने को जी चाहता है कि इसके द्वारा पितृसत्ता पर सवाल उठाये गये और सामान्य स्त्रियों की जिन्दगी बदल गयी। लेकिन इसके कम ही प्रमाण उपलब्ध होते हैं। ऐसा सम्भव है कि इन वर्गों की नवीन आर्थिक समृद्धि ने इनमें गरिमा व आत्मविश्वास की ताकत दी।[3]

भक्ति आन्दोलन की लोकदीप्ति में दलितों, शिल्पकारों के साथ बड़ी संख्या में स्त्रियाँ काव्य-जगत में दस्तक देती हैं। यह एक चौंकाने वाला तथ्य है कि नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की प्रारंभिक रचनाकर स्त्रियाँ ही हैं। मराठी में महदम्बा, तेलुगु में मोल्ल, कश्मीर में लल्लद्यद कन्नड़ में अक्क महादेवी, बँगला में माधवीदास– ये वे कवयित्रियाँ हैं जो मध्यकाल में अपनी-अपनी भाषाओं में प्रारंभिक रचनाओं का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

इसमें अधिकतर स्त्रयाँ वे हैं जो या तो आजीवन अविवाहित रहीं, या विवाह करने के बाद उसके घेरे को तोड़कर बाहर आयीं। स्त्री होने की पीड़ा को इन्होंने किसी-न-किसी स्तर पर अवश्य महसूस किया चाहे वे सवर्ण वर्ग की ही क्यों न हों। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इनमें बड़ी संख्या उन स्त्रियों की है जो सामान्य वर्ग अथवा निर्धन परिवार से आती हैं। सबसे बड़ी बात कि इन स्त्रियों का स्वर न केवल आत्मविश्वास से परिपूर्ण है बल्कि भक्ति काल में ये स्त्रियाँ ही हैं जिनकी रचनाओं में सामाजिक पक्ष अधिक स्पष्ट है। अन्याय के प्रति प्रतिरोध का स्वर तथा स्त्रीजनोचित मर्यादा का डंके की चोट पर उल्लंघन– ये इनकी कविताओं को समाज शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान बना देती हैं। अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की तरह मध्यकाल में मीरा के अतिरिक्त उमा, दयाबाई, सहजोबाई, रत्नकुँवरि बाई, जुगलप्रिया, विष्णुप्रिया, रसिक बिहारी, ताज, शेख, रत्नावली आदि कवयित्रियों की लम्बी कतार है जो न केवल विविध वर्गों से आती हैं, बल्कि जिन्होंने अपने वैविध्यपूर्ण काव्य से हिन्दी कविता को समृद्ध किया।

आधुनिक काल के आगमन के साथ जब मध्यवर्ग का उदय होता है और कविता इहलौकिक होती है तो स्त्री-रचनाशीलता में भी बदलाव आता है। एक तरफ तो राजघरानों की स्त्रियाँ रचनारत दिखती हैं जो भक्ति की परम्परा की रचनाएँ करती हैं और दूसरी तरफ मध्यवर्ग की स्त्रियों का कविता के क्षेत्र में पदार्पण होता है। नवजागरण का प्रभाव इस समय की स्त्री-रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। स्त्री-शिक्षा ने स्त्रियों का परिचय बाहर की दुनिया से कराया और इस तरह स्त्रियों के मानस क्षितिज का विस्तार हुआ। इस काल की अधिकतर स्त्री-रचनाकार मध्यवर्ग से हैं। जो मध्यवर्ग से है उनकी रचनाओं में यह जागरूकता अधिक है।

इस काल में कवयित्रियों संख्या ऊँगलियों पर गिने जाने लायक है। पर जो

हैं वे स्त्री-लेखन के परिपक्व रूप से परिचय कराती हैं। रमादेवी, राजरानी देवी, गोपाल देवी, बुंदेलाबाला, हेमंत कुमारी आदि कुछ ऐसे ही नाम हैं। आगामी कालावधि इसी जागरूकता का विस्तार है। इसी को रेखांकित करते हुए डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं– ''ईश्वर की सत्ता दुःखवादी सत्ता है। ईश्वर का कविता से जाना स्त्री को अपनी अस्मिता और सामाजिक अधिकार प्राप्त करने में बड़ी मदद करता है। आधुनिक स्त्री-काव्य में सार्वजनिक विषयों का प्रवेश ईश्वर की सत्ता को अपदस्थ करता है।''[4]

स्त्री-शिक्षा के लिए किये गये प्रयासों के फलस्वरूप स्त्री शिक्षा सामान्य वर्ग के लिए उपलब्ध हो सकी। इस शिक्षा ने मध्यवर्ग की स्त्रियों को समाज सजग बनाया। उनके गीतों में इसी युगीन चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। राष्ट्रीयता का यह स्वर प्रायः सभी स्त्री-रचनाकारों में उपलब्ध होता है।

मुख्यधारा की कविताओं की तरह स्त्री काव्य में छायावादी काव्य धारा, राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा और व्यक्तिवादी काव्यधारा का स्पष्ट विभाजन नहीं है। इस समय की स्त्री-रचनाकारों में राष्ट्र-प्रेम तथा राष्ट्र के लिए बलिदान होने का भाव प्रबल है। स्त्री रचनाकारों की रचनाएँ उनकी सजग युग-दृष्टि का परिचय देती हैं। यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि स्त्री-रचनाकारों में उनके युग का यह आलोड़न पर्याप्त मुखरित है।

महादेवी व सुभद्रा कुमारी चौहान ये दो स्त्री–रचनाकार अपने युग के स्त्री आलोड़न के दो छोरों का स्पर्श करती हैं। महादेवी की धीरता और सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रखरता– ये नवजागरण की ऐसी निर्मित हैं जो मीरा को छोड़कर समस्त स्त्री-काव्य में दुर्लभ हैं।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की स्त्री-कविता में राष्ट्रीयता के स्वर की प्रधानता है। सुभद्रा कुमारी चौहान के साथ राष्ट्रीयता की अनुगूँज में अपना भी स्वर मिलाने वाली स्त्री-रचनाकारों की एक लम्बी कतार है।

स्त्री-रचनाकारों द्वारा अभिव्यक्त राष्ट्रीयता के स्वर के कई-कई रूप हैं। यह राष्ट्रीयता नवजागरण का ही प्रतिफलन थी जिसने अतीत के प्रति गौरवबोध जगाया। वर्तमान की जर्जरता के सम्मुख अतीत की समृद्धि और उन्नति की स्मृति बार-बार उपस्थित होती है। एक विदेशी उन्नत जाति के प्रभुत्व से भयाक्रांत राष्ट्र की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। साथ ही यह प्रभुत्वशाली जाति के सम्मुख हीनता ग्रन्थि से दबे जन-मानस में गौरव-बोध भरने का उपक्रम भी था।

दूसरी तरफ स्त्री रचनाकारों की वह पंक्ति है जो महादेवी की भावधारा के साथ है महादेवी वर्मा की कविताएँ जिस रहस्यवादी आवरण या अवगुंठन से आच्छादित हैं– इस युग के स्त्री-काव्य का भी मूल भाव उससे अलग नहीं है। वेदना एक युगीन भाव बन गया था। वेदना का यह स्वर आंतरिक पीड़ा के संसार को व्यक्त करता है जिसका स्वरूप कहीं भी स्पष्ट नहीं है। वेदनाजनित अश्रु से अधिकतर कविताएँ

गीली हैं। आँसुओं को मौन भाव से पीना भी मानो युगीन गौरव बन गया है। इस वेदना के सामाजिक आधार की अनदेखी नहीं की जा सकती

एक बात स्पष्ट है कि इस दौर के प्रारम्भ की स्त्री-कविता में जहाँ देशप्रेम और अतीत के पुनराख्यान का भाव प्रबल है, वहीं सन् 1935 के बाद की कवयित्रियों की रचनाओं में प्रकृति, प्रेम तथा व्यक्तिपरक भावों की अभिव्यक्ति अधिक देखने को मिलती है। प्रगतिवाद का कोई प्रभाव स्त्री-कविता में देखने को नहीं मिलता।

स्वतन्त्रता संघर्ष के दौर की युगीन स्त्री-अस्मिता का स्वरूप यह था कि स्त्री पारम्परिक निष्क्रिय छवि को मिटा कर समाज में अपनी सार्थकता प्रमाणित करना चाह रही थी। उसे यह प्रमाणित करना था कि घर की चारदीवारी के बाहर की जिस दुनिया से उसे वंचित रखा गया है वह वहाँ भी खड़ी हो सकती है और अपनी पहचान स्थापित कर सकती हैं। यह युग उसके व्यक्तित्व के बाह्य जगत में विस्तार का था, उसके सामर्थ्य की उद्घोषणा का था। इसलिए राष्ट्र के आह्वान में उसने अपना स्वर भी आगे बढ़कर मिला दिया। इस सामर्थ्य से मुठभेड़ का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। इस सामर्थ्य से परिचित होने के बाद ही पुरुष उसके लिए स्पेस देने को प्रस्तुत हो सका।

स्वतन्त्रता के बाद परिदृश्य में बदलाव आता है। स्त्री-अस्मिता अभी स्वतन्त्र रूप से खड़ी होने को प्रस्तुत न थी। भक्ति के बाद इसने राष्ट्रीयता की ओट ली। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब वह प्रकृति के अवलम्ब से अपने आपको खड़ी करती दिखती है। मध्यवर्गीय सुखी और आत्मकेंद्रित जीवन की परिणति शंकुत माथुर और कीर्ति चौधरी की कविताओं में देखने को मिलती है। इस कविता के भी अपने निहितार्थ हैं। सीमित परिधि में आबद्ध चेतना एक समय के बाद परिवेश के प्रति असन्तुष्टि के रूप सुख व सन्तुष्टि के छद्म को भेद डालती है। ये कविताएँ एक खास अवधि में एक विशिष्ट वर्ग की स्त्रियों के अन्तर्जगत को सामने लाती हैं। स्त्री-रचनाशीलता की दृष्टि से स्वातन्त्रयोत्तर परिदृश्य स्पष्ट पहचान नहीं बना पाता। वह पुरुष मुखापेक्षी बनकर रह जाता है। बड़ी बात यह कि जो स्त्री-रचनाकार समर्थ हैं, उनकी तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया और वे विस्मृति की गर्त में खो गयीं। जिन स्त्री-रचनाकार को पुरुष द्वारा स्वीकृति मिली वे थीं द्वितीय सप्तक में शामिल शकुंत माथुर और तृतीय सप्तक में शामिल कीर्ति चौधरी। किन्तु कवियों की भीड़ में ये कोने में सिमटी हुई दिखती हैं जिनको लक्षित नहीं किया गया। स्वयं अपनी आत्म स्वीकृतियों में भी ये अपने आपको हाशिये पर ही रखती हैं। ये कविताएँ स्त्री-अन्तर्मन के दरवाजे खोलती हैं। इसमें शक नहीं कि ये कविताएँ मध्यवर्गीय सुखी सम्पन्न स्त्री जीवन की अभिव्यक्तियाँ हैं। पर समय के साथ इस अभिव्यक्ति में अवसाद और अन्तर्द्वन्द्व की क्षीण-सी प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है। अब तक स्त्रियाँ राष्ट्र की पुकार में अपनी आवाज मिला रही थीं। राष्ट्रीय आलोड़न और उथल-पुथल के युग में अपने अन्दर झाँकने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। ये कविताएँ इस बात का गवाह थीं कि स्त्री की दृष्टि अब अपनी तरफ उठ रही थी। उसने अपने-आपको देखना, जानना और पहचानना प्रारम्भ किया। नवीन उपमान और बिम्बों की ओर उसकी दृष्टि गयी। किन्तु स्त्री-अस्मिता की वह अनुगूँज जो आगे चलकर स्त्री-कविता की मुख्य पहचान बनी, स्त्री-कविता अभी तक उससे शून्य थी। इस अवधि की कविता को विगत अवधि की राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की समाजोन्मुखता और आगामी युग की प्रखर स्त्री-अस्मिता के संघर्ष की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

आगे चलकर शिक्षा में स्त्री की बढ़ रही भागीदारी के साथ स्त्रियाँ घर से बाहर निकलती हैं और स्त्री-चेतना में बदलाव आता है। स्त्री-चेतना में आये बदलाव के माहौल में रचा जो स्त्री-साहित्य है, उसमें अन्तर्द्वन्द्व का भाव प्रमुखता से देखने को मिलता है। नयी भूमिका स्त्री को आकृष्ट कर रही थी पर पुराने संस्कारों को छोड़ना आसान न था। परिणामस्वरूप उसके सामने कशमकश की स्थिति थी। इस अन्तर्द्वन्द्व का प्रतिफलन इस समय के स्त्री-काव्य में देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् स्त्री-शिक्षा का प्रसार हुआ। शिक्षा के प्रसार ने स्त्री स्वालम्बन का द्वार खोला और पढ़ी-लिखी प्रबुद्ध स्त्री का एक वर्ग बाहरी दुनिया में आया। बाहरी दुनिया के द्वार तो खुले पर घर के अन्दर की जिम्मेदारियाँ पारम्परिक रूप से स्त्री की ही थीं– उसे बाँटने को कोई प्रस्तुत न था। परिणाम पर हुआ कि बाहर जाने पर घर की जवाबदेहियों के प्रति वह ग्लानि से भर उठती है। घर और बाहर के बीच बँटी यह स्त्री दोहरी जिम्मेदारी के साथ, आत्मग्लानि, अवहेलना व अन्तर्दन्द्व से भरी हुई थी। परम्परा और आत्मबोध– ये दोनों मिलकर तनाव पैदा कर रहे थे। अपने निर्णय की कीमत दोहरी जिम्मेदारी व लोगों के तानों से चुकानी पड़ रही थी। स्नेहमयी चौधरी की कविताओं में घर-बाहर के द्वन्द्व में फँसी इस नयी स्त्री को देखा जा सकता है। इस रूप में देखें उनकी कविताओं में उनके समय की स्त्री का अन्तर्द्वन्द्व अपनी सम्पूर्णता में मुखरित हुआ है।

सुनीता जैन, इन्दु जैन की कविताओं में परिवेश में आ रहे बदलाव के बीच नयी भूमिका और अपने-आपको तलाश रही स्त्री उपस्थित है। दूसरी तरफ शान्ति सुमन, रमणिका गुप्ता, अंजना वर्मा की कवितायें परिवेश के प्रति सजग होती कविताओं को सामने लाती हैं। इनमें जनपक्षधरता भी दिखाई पड़ती है। इस अवधि के रचनाकारों ने शान्ति सुमन इन अर्थों में विशिष्ट हैं कि उनकी कवितायें स्त्री परिधि की सीमा से बाहर निकलकर व्यापक जन संवेदना से जुड़ती हैं।

सुमन राजे इस अवधि की विशिष्ट कवयित्री हैं। इनकी कवितायें जटिल समय की विडम्बनाओं को कुशल शिल्प में प्रस्तुत करती हैं। उनकी कविताएँ इस रूप में महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं कि वे अपने समय की स्त्री परिधि का उल्लंघन करती हुई व्यापक सरोकारों से जुड़ती हैं। यह जितना भाव के स्तर पर होता है, उतना ही शिल्प

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

के स्तर पर भी। उनकी कविताएँ स्त्री-कविता में शिल्प की सजगता के साथ उपस्थित होती हैं। स्त्री क्षितिज का यह विस्तार अत्यन्त आश्वस्तिपरक है। उनकी कविता में स्त्री और पुरुष की कविता के बीच की दीवार ध्वस्त हो जाती है। इन्हें कविता के लैंगिक विभाजन से परे जाने के सुखद संकेत के रूप में लिया जाना चाहिए।

जनपक्षधरता के तत्त्व स्त्री-कविता में बहुत बाद में शामिल हुए। इसकी वजहें भी थीं। सबसे बड़ी बात तो यह कि व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुए बिना कोई कैसे दूसरों के साथ जुड़ सकता है। अब तक तो स्त्री की लड़ाई अपने लिए थी। मनुष्य के रूप में वह अपनी स्वीकृति के लिए जूझ रही थी और अपने-आपको खोज रही थी। वह अपनी मौन यातना की अभिव्यक्ति की राह तलाश रही थी। कविता उसकी अपनी तलाश का माध्यम बनकर आयी। इसके द्वारा उसने अपनी पहचान स्थापित करने की कोशिश की। कविता में उसने आपको अभिव्यक्त करना सीखा। कविता में स्वयं को स्थापित करने के बाद ही वह जनोन्मुख हो सकी। पर इसमें उसे एक लम्बा वक्त लगा।

जनपक्षधरता प्रतिबद्ध चेतन की उपज होती है। समाजोन्मुखी व्यक्तित्व ही जनपक्षधरता की कसौटी पर खरा उतर सकता है। हिन्दी की स्त्री-कविता में जनपक्षधरता का अभाव इस बात का परिचायक है कि यहाँ की स्त्रियों का व्यक्तित्व सामाजिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है। यह एक अलग सवाल हो सकता है कि इसके लिए समाज जवाबदेह है या व्यक्ति। निश्चय ही व्यक्तित्व के रेखाचित्र समाज द्वारा अंकित होते हैं। ऐसे में यह एक बड़ा सवाल बन सकता है कि हिन्दी पट्टी किस सीमा तक अपनी स्त्रियों को स्पेस दे सका है।

दूसरी तरफ यह भी महत्त्वपूर्ण होता है कि रचनाकार किस वर्ग से आता है क्योंकि अपने साथ वह अपनी पक्षधरता भी लाता है। हिन्दी की स्त्री-रचनाशीलता मुख्यतः मध्यवर्गीय जीवन तक केन्द्रित है। इसने स्त्री-कविता की परिधि को सीमित किया। इसे स्त्री के अनुभव जगत के साथ भी जोड़कर देखा जा सकता है। अब तक प्रगतिवाद अपने उत्कर्ष पर पहुँचकर एक विलुप्त अध्याय बन चुका था पर वह एक भी स्त्री-रचनाकार पैदा नहीं कर सका था। यह एक बड़ा सवाल हो सकता है कि प्रगतिवाद एक भी स्त्री-रचनाकार क्यों न दे सका।

लोक संवेदना का एक रूप नयी कविता में देखने को मिलता है। बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक में नवगीतकार जन सम्पृक्ति के साथ उपस्थित होते हैं और खोये हुए छंद के साथ खोयी हुई लयता का एक नया भाष्य रचते हैं। इस अवधि में शान्ति सुमन नवगीतकार के रूप में अपनी सशक्त पहचान स्थापित करती हुई स्त्री-कविता में नया पृष्ठ जोड़ती हैं। स्त्री की कविता में फैलाव आता है और वह अपने से ऊपर उठकर जन समुदाय से सम्पृक्त होती हैं। स्त्री-कविता की यह जनपक्षधरता स्त्री-रचनाधर्मिता के प्रति आश्वस्त करती हुई उसकी कविता को नया विस्तार देती है जहाँ स्व की सीमाओं से बाहर आकर वह सामाजिक इकाई के रूप में अपने-आपको स्थापित करती है।

वैसे तो कविता अभिव्यक्ति की विवशता होती है। पर स्त्री-कविता में इसके सन्दर्भ इस रूप में अलग हो जाते हैं कि वहाँ सदियों का संचित मौन ठोस चट्टान की तरह अवरोधक बनकर खड़ा है। इस चट्टान को तोड़कर बाहर आने वाली अभिव्यक्ति में बाँध तोड़कर प्रवाहित होने वाली जलधारा का आवेग है। यहाँ सिर्फ और सिर्फ अपनी आवाज की तलाश का लक्ष्य है। यही कारण है कि अस्मिता विमर्शों की आरंभिक रचनाएँ आत्मकथाओं और आत्माभिव्यक्ति के रूप में सामने आयीं। यहाँ शिल्प के सधाव का आग्रह नहीं दिखता। आगे चलकर प्रौढ़ होने के उपक्रम में इसने शिल्प की नवीन भंगिमाएँ भी अख्तियार कीं। स्त्री-रचनाशीलता स्त्री परिधि से बाहर निकलकर सामाजिक सरोकारों से जुड़ी अपने समय के सवालों से टकराने का माद्दा भी इसने हासिल किया।

वर्ष 1975 स्त्री-चेतना के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है। स्त्री -चेतना में असंन्तोष व सुगबुगाहट की आवाजें सन् 70 के बाद से ही सुनायी पड़ने लगी थीं। विविध सामाजिक, आर्थिक मुद्दों के माध्यम से यह आक्रोश आकार ग्रहण करने लगा था। और तभी आता है सन् 1975 का वर्ष। सन् 1975 को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अन्तराष्ट्रीय महिला दशक घोषित किया जाना स्त्री-चेतना में आया एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है। इसके पहले स्त्री-अस्मिता राष्ट्रीय व सामाजिक मुद्दों में प्रसार पाती रही थी, पर अब उसकी अस्मिता का स्वतन्त्र रूप से प्रसार हुआ और बिना किसी सहारे के वह पहली बार अपने लिए खड़ी हुई। प्रतिपक्ष के रूप में पितृसत्ता की उसने शिनाख्त की और स्त्री-जीवन के उन मुद्दों पर अपनी आवाज बुलन्द की जो परम्परा के रूप में पितृसत्ता द्वारा उस पर थोपे गये थे। अपने विरूद्ध होने वाले अत्याचारों के प्रति स्त्रियाँ सजग हुई और इसके विरुद्ध संगठित प्रतिरोध उभरा।

स्त्रीवाद की दृष्टि से यह उच्चतर स्त्रीवाद का दौर था जब व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की माँग उठने लगी। स्त्री चेतना में आयी इस सजगता तथा स्त्री-अस्मिता के उभार ने स्त्री-चेतना को परिपक्व बनाया। इन नवीन आलोड़नों के आलोक में नब्बे के बाद स्त्री-रचनाकारों की एक पीढ़ी सामने आयी जिसमें आत्मविश्वास का भाव प्रबल था। सदियों के अनुकूलन ने स्त्री व्यक्तित्व पर जो अवगुंठन डाल रखा था, उसने उसकी अभिव्यक्ति को भी प्रभावित किया था। उसके व्यक्तित्व पर छाया अवगुंठन का यह आवरण लम्बे समय तब उसके व्यक्तित्व को भी आच्छादित किये रहा। यही कारण है कि अपनी सामाजिक सजगता के बावजूद वह अपने-आपको छुपाती रही और अपने-आपको अभिव्यक्ति करने से बचती रही। कविता एक आत्मपरक विधा रही है। पात्रों की ओट से अपने-आपको अभिव्यक्त करना आसान होता है। कविता साक्षात होने वाले संवाद की तरह है। इसमें पाठकों से सीधा सामना

होता है। ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि जहाँ कहानियों और उपन्यासों में स्त्री-चेतना को मुखर अभिव्यक्ति मिली, कविता में इस मुखरता को अर्जित करने में वक्त लगा। नब्बे के बाद की स्त्री-कविता में इस मुखरता को देखा जा सकता है। नब्बे के बाद स्त्री अपने प्रति सजग हुई और उसने सलीके से अपने-आपको अभिव्यक्त करना सीखा। कवयित्रियों की इस नयी पीढ़ी ने पूरी तन्मयता और आत्मविश्वास के साथ कविता में अपनी मजबूत दस्तक दी। इस नयी स्त्री के शिल्प और भाषा को टालना समय की अनदेखी करना है। गगन गिल, अनामिका, कात्यायनी, ज्योत्सना मिलन, रंजना जायसवाल, रंजना श्रीवास्तव, सुमन केशरी, सविता सिंह, निर्मला पुतुल-लम्बी फेहरिश्त है स्त्री-रचनाकारों की जिन्होंने कविता के क्षेत्र में मजबूत पहचान अर्जित की है। वस्तुतः नयी सदी स्त्री-रचनाकारों की सदी है– बड़ी संख्या में स्त्री रचनाकार कविता जगत में आती हैं, इतनी कि चाहे तो शुक्ल जी की तर्ज पर इसे 'हिन्दी कविता का स्त्रीकाल' कहा जा सकता है।

सदियों से वंचित समुदाय के लिए कविता– या साहित्य अभिव्यक्ति का ही नहीं, अपनी पहचान का भी माध्यम बना। यह उनके जीवन में शॉक आब्जर्वर बनकर आया। जिन यातनाओं का कोई इतिहास नहीं था, यहाँ अपनी उन यातनाओं को उसने शब्द दिया, समझा और संघर्ष के लिए तैयारी की। इसलिए अस्मिता विमर्शों के आरंभिक स्वर वेदना और आक्रोश के हैं। आगे चलकर जब इसकी जमीन बन जाती है तो इनमें आत्मविश्वास भी आता है और शिल्प के प्रति सजगता भी। इनकी अपनी दृष्टि निर्मित होती है जो उनके क्षितिज में विस्तार लाता है।

अस्मिता विमर्शों के उभार ने साहित्य में अपनी अलग जगह बनायी। स्त्री -मुक्ति के सन्दर्भ में इसने स्त्री-विमर्श का रूप में लिया और लेखन की एक विशिष्ट धारा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सुमन राजे इसे परिभाषित करती हुई लिखती हैं–''. .. स्त्री के मुक्ति-संघर्ष का एक समृद्ध शास्त्र विकसित हुआ है जिसे समग्र रूप से स्त्री-विमर्श कह दिया जाता है।''[5] इसके स्वरूप के सम्बन्ध में लेखिका की स्थापना है– ''यह जितना बाहरी स्तर पर संघटित और घटित हुआ है, उतना ही आन्तरिक स्तर पर भी। वह एक साथ आत्मसंघर्ष भी रहा है, आत्मबोध, आत्मविश्लेषण और आत्माभिव्यक्ति का संघर्ष भी।''[6]

इस प्रकार स्त्री अपने स्त्रीत्व से परिचित हुई और उसको आरंभिक स्तर पर कमजोरी मानने वाला स्त्रीवाद परिपक्वता पर पहुँचने के बाद उसे अपनी विशिष्टता के बोध से युक्त हुआ। स्त्रीवाद ने समानतामूलक दृष्टि विकसित की। उसकी करुणा संवलित दृष्टि ने उसे मानवीय आधार प्रदान किया। मातृत्व बोध से युक्त होकर उसने अपने आँचल की छाँव में समस्त वंचितों को आश्रय दिया। यही कारण है कि उसकी कविता में वृद्धों, उपेक्षित जनों, पीड़ितों और वंचितों को भी जगह मिली। इस प्रकार स्त्री-कविता ने अपनी दृष्टि और भूमि निर्मित की। स्त्री निर्माण करती

है, वह सर्जक है, इसलिए जहाँ कहीं विध्वंस या युद्ध होता है वहाँ वह कराह उठती है। कोई आश्चर्य नहीं कि उसकी कविता बम विस्फोटों, आतंकवाद, युद्धोन्माद, साम्प्रदायिक दंगों के प्रति प्रतिक्रिया से भरी हुई है। राजनीतिक सजगता भी उसमें आती है और अवसरवादिता और छद्मों के प्रति असन्तोष भी वहाँ दिखलाई पड़ने लगता है। स्त्री-कविता लोकपक्ष के निकट आती हुई जिसे उच्चतम स्त्रीवाद का प्रभाव माना जाना चाहिए। यह लोकपक्ष भाषा और भाव दोनों ही स्तरों पर उसे समृद्ध करता है। इस दौर की स्त्री-कविता इन सब विशिष्टताओं से युक्त हो अपनी अलग पहचान स्थापित करने में सक्षम होती।

स्त्री-विमर्श के सरोकार जितने सामाजिक हैं, उतने ही साहित्यिक भी। इसका सीधा सम्बन्ध स्त्री-अस्मिता तथा स्त्री-मुक्ति से है। इससे पहले स्त्री-लेखन में स्त्री -मुद्दे थे, उनकी समस्यायें थीं, सुधारा के आग्रह थे– पर स्त्री स्वयं नहीं थी। स्त्री -विमर्श ने दृष्टि स्त्री-केन्द्रित की। स्त्री अपनी अस्मिता बोध के साथ सामने आयी। अब उसकी दृष्टि समस्यायों से आगे बढ़कर उसके कारणों की ओर उन्मुख हुई। उसने अपने प्रतिपक्ष की शिनाख्त की और व्यवस्था में बदलाव की ओर उन्मुख हुई। प्रतिरोध का स्वर विमर्श का आधार बना। स्त्री विमर्श आधी आबादी के मानवाधिकार की लड़ाई बना। यह मनुष्य के रूप में उसकी स्वीकृति की माँग थी।

स्त्री-लेखन में इसका प्रभाव यह पड़ा कि इसने स्त्री-लेखन की दिशा ही बदल दी। इसका एक प्रतिफल यह भी रहा कि स्त्री विमर्श के निश्चित मुहावरे बन गये और इस मुहावरे में रची कविताओं की बाढ़ सी आ गयी। इसका सकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि स्त्री ने सारे संकोच को तोड़कर अपने बारे में कहने का साहस जुटाया। इसके साथ स्त्री का एक नया लोक सामने आया और उसकी यातना, स्वप्न और संघर्ष से साहित्य-जगत परिचित हुआ। इसने स्त्री-लेखन में अद्भुत तेजस्विता भरी। जो कुछ भी स्त्री-विरोधी था, उसके प्रति नकार से भरी हुई वह अपना शास्त्र स्वयं रचने को प्रतिबद्ध हुई। स्त्री जीवने के अनुभव कविता में आने लगे। स्त्री-विमर्श के तेवर से स्त्री की कोई रचनाकार अछूती नहीं रहीं। यहाँ तक कि इसने पुरुष रचनाकारों का भी स्त्री के प्रति स्वर बदल डाला और अब तक के नायिका-भेद और रूमानी भावबोध से परे जाकर स्त्री पर बहुत अच्छी कविताएँ आयीं।

प्रतिरोध के स्वर का आना एक नयी बात थी। हर प्रकार के संकोच को तोड़ती इसने जीवन के हर अनुभव को वाणी देना प्रारम्भ किया। स्त्री-कविता के इसी महत्त्व को रेखांकित करते हुए देवशंकर नवीन लिखते हैं– ''पर्याप्त प्रमुखता से हिन्दी कविता में स्त्री जीवन का चित्र अंकित होता रहा है, अगर स्त्रियों द्वारा लिखी गयी कविताओं में स्त्री-जीवन के बुनियादी प्रश्नों पर विचार-विमर्श हुआ है। उनके यहाँ हर तबके के स्त्रियों के मन को पढ़ा गया है। सदियों से हमारे समाज की स्त्रियाँ उपेक्षा, अपमान और निरर्थकता की प्रतिमूर्ति बनी रहीं ; सब कुछ सहती रहीं; पुत्रीत्व, बन्धुत्व, मातृत्व

का उदाहरण बनती रही; आज वे ही स्त्रियाँ सुधीजनों के बीच विचार का विषय बनी हुई हैं तो वह इन महिला रचनाकारों की रचनाओं के बूतें सही।''[7]

नयी सदी की स्त्री-कविता नब्बे के दशक की कविता का ही प्रसार है। यह समय स्त्री-चेतना के समाज, सैद्धांतिकी और विमर्श के धरातल पर प्रतिष्ठित होने का है। वाचालता नकार और आत्मविश्वास के अभाव का सूचक होती है। नयी सदी तक आते-आते नब्बे के बाद की मुखरता में ठहराव आया, आत्मविश्वास का भाव प्रबल हुआ। बड़ी संख्या में स्त्री रचनाकार सामने आयीं। इससे स्त्री-कविता समृद्ध तो हुई पर इसका एक प्रतिफल यह हुआ कि स्त्री-विमर्श की शब्दावली में रची कविताओं की बाढ़ सी आ गयी। प्रतिरोध और प्रश्न की एक ही परिपाटी पर लिखी गयी कविताओं के कोलाहल में स्त्री की वास्तविक आवाज दब गयी।

यह आश्वस्तिपरक है कि स्त्री-विमर्श की बँधी बँधाई परिपाटी की स्त्री रचनाकारों के अतिरिक्त ऐसी स्त्री-रचनाकार सामने आ रही हैं जिनकी कविता अपने समय और समाज के सन्दर्भों को अपने में समाहित कर रही है। इस प्रकार की कविताओं में स्त्री और पुरुष का भेद समाप्त हो रहा है। यह एक सुखद संकेत है जो स्त्री पुरुष की निरंतर साझी होती दुनिया का परिचायक है।

पारम्परिक माध्यम– प्रिंट मिडिया– से परे स्त्री-रचनाधर्मिता अब दृश्य माध्यमों –इंटरनेट और सोशल साइट्स आदि पर भी सक्रिय हो रही हैं जहाँ इनकी रचनाएँ मजबूती से अपनी पहचान दर्ज कर रही हैं। यह वह स्त्री रचनाधर्मिता है जिसे पारम्परिक माध्यमों की रूढ़ मान्यताओं के कारण स्पेस नहीं मिल रहा है। स्वीकार करना होगा कि ये रचनाएँ अपनी ताजगी और नवीन तेवर में ध्यान आकृष्ट कर रही हैं।

हिन्दी साहित्य का इतिहास स्त्री की इस दस्तक के प्रति खामोश है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुस्तकों को खँगाल जाइये, सिर्फ उँगलियों पर गिने जाने वाले कुछ नाम ही मिलेंगे। पुरुष इतिहासकारों द्वारा स्त्री-लेखन की उपेक्षा का यह कार्य कई दिशाओं में हुआ। स्त्री-लेखन को विचारणीय नहीं मानना, पितृसत्ता को चुनौती देने वाली रचनाओं की उपेक्षा, केवल उन्हीं रचनाओं का उल्लेख जो उनके संस्कारों को पोषित करती हों और स्त्री-रचनाओं पर स्त्री की रूढ़ छवि का आरोपण –ये पारम्परिक साहित्येतिहास लेखन की वे सीमाएँ हैं जिनका खामियाजा स्त्री-लेखन को भुगतना पड़ा और वह अपनी उचित पहचान से वंचित हो गयी। यही नहीं, जिस लेखन को उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी, उनके भी क्रांतिकारी पक्ष की अवहेलना कर केवल उसी पक्ष को उभारा गया जो पितृसत्ता की मानसिकता के अनुकूल पड़ता था। इसीकी परिणति रही कि मीरा एक भक्ति विह्वल कवयित्री बनकर रह गयीं और महादेवी रहस्यवादी। स्त्री-लेखन की यह उपेक्षा किसी-न-किसी रूप में आज तक चली आ रही है। जो पुराने आलोचक हैं वे आज भी इसी मानसिकता से ग्रस्त हैं।

सुखद बात यह है कि नये आलोचक साहित्य में स्त्रियों की उपस्थिति को खुले दिल से स्वीकार कर रहे हैं जो ं स्त्री के प्रति समाज और साहित्य के नजरिये में आ रहे बदलाव को रेखांकित करते हैं। ए. अरविंदाक्षन की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– '' ... भरपूर मात्रा में दिखती यह स्त्री दरअसल एक स्त्री मात्र नहीं है। वह एक समाज है; उसका एक इतिहास है। दरअसल वह समाज का एक नैरन्तर्य है और बृहद इतिहास के अनगिनत अवशेष भी हैं। इन कविताओं के माध्यम से हम इतिहास के तमाम गवाक्षों को खोलकर देख सकते हैं।''[8]

इस आवाज को नकारना इतिहास के साथ छल है और इस बार यह उपेक्षा सम्भव नहीं है, क्योंकि अब वह सन्नद्ध है कि उसकी आवाज इतिहास द्वारा नकारी न जा सके। आवश्यकता है कि स्त्री-लेखन का समुचित आकलन हो और साहित्येतिहास में उसे पर्याप्त स्थान दिया जाय। निष्कर्षतः युवा आलोचक देवेन्द्र चौबे के शब्दों में कहा जा सकता है– '' ... जो समाज इतिहास में अपनी जगह बनाना चाहता है, अब उसे खुद अपना इतिहास रचना होगा। यदि वास्तव में कवयित्रियाँ चाहती हैं कि साहित्य के इतिहास में उनकी जगह बने और वह जगह जो उनके तेवर को स्पष्ट करे, तो कहीं-न-कहीं स्त्री-साहित्य का इतिहास अब उन्हें खुद अपना इतिहास रचना होगा। वह इतिहास जो उनके प्रतिरोध, विरोध और संघर्ष का होगा, उस व्यवस्था के खिलाफ, जिसने उन्हें 'ज्ञान' और 'सत्ता' की दुनिया से बाहर रखा।''[9]

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ. 27
2. वही, भूमिका
3. वीमेंस राइटिंग इन इंडिया, सुसी थारु एवं के. ललिता, न्यूयार्क फेमिनिस्टिक प्रेस, 1991, पृ. 62
4. स्त्री काव्यधारा, जगदीश्वर चतुर्वेदी एवं सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, 2006, पृ 11
5. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, सुमन राजे, पृ. 302
6. वही
7. वाक्, अंक 12, देवशंकर नवीन, पृ. 68
8. पाखी, फरवरी 2012, पृ. 7
9. आलोचना का जनतन्त्र, देवेन्द्र चौबे, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, 2011, पृ. 345

हिन्दी साहित्य की उपेक्षित प्रमुख बहुजन कवयित्रियाँ

प्रेमपाल

स्त्री एवं पुरुष इस संसार के दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं। और साहित्य उनके कलात्मक लेखन की अभिव्यक्ति। परन्तु पुरुष समाज ने सदा ही स्त्री समाज को हाशिए पर ढकेलने का कुचक्र रचा है। इससे हिन्दी साहित्य भी अछूता नहीं रहा। यहाँ भी पुरुष साहित्य एवं साहित्यकारों ने स्त्री साहित्य एवं साहित्यकारों को निरंतर हाशिए पर रखने का प्रयास किया। इस सबके बावजूद न केवल कवयित्रियों ने अपनी अस्मिता बनाए रखी अपितु समय-समय पर समाज को भी अपनी अस्मिता का बोध कराया।

उल्लेखनीय है कि स्त्री-रचनाकारों की एक लम्बी परम्परा और पृष्ठभूमि रही है जो पुरातन काल से आधुनिक काल तक उपस्थित है। लेकिन समाज द्वारा इस परम्परा की सदा से उपेक्षा किए जाने के कारण यह कभी साहित्य-जगत का केंद्र बिन्दु नहीं बन सकी। यदि पुरातन काल की चर्चा की जाये तो ममता, रोमषा, लोपामुद्रा, अदिति, विश्ववारा आत्रेयी, अपाला आत्रेयी आदि कवयित्रियों के नाम और रचनाएँ हमारे सामने आती हैं। इसी प्रकार थेरी गाथाओं में भी कई थेरियों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं जिनमें चॉपा, अंबपाली, उव्विरी और पूर्णिका का नाम मुख्य है। कालांतर में पालि और प्राकृत भाषा में भी कई लेखिकाएँ हुईं जिन्हें कभी आगे लाने योग्य नहीं समझा गया। इनमें विज्जका, शीलाभ भट्टारिका, शशिप्रभा, रेवाँ और रोहा के नाम लिये जा सकते हैं। स्त्री-साहित्य के प्रति इतिहासकारों की इस बेरुखी को डॉ. सुमन राजे इस प्रकार बतलाती हैं, ''इतिहास के परिप्रेक्ष्य में जब हम स्वयं को देखते हैं तो हमारा अस्तित्व स्वयं अत्यन्त लघु हो जाता है। विराट इतिहास में हमारा अस्तित्व ठीक-ठीक एक बिन्दु के बराबर भी तो नहीं।''[1]

इतिहासकारों के साथ-साथ हिन्दी साहित्यकारों ने भी लेखिकाओं के साथ न्याय नहीं किया। यदि मीराबाई और महादेवी वर्मा को छोड़ दिया जाये तो कई लेखिकाओं को साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया गया जो उसका महत्त्वपूर्ण अंग हो सकती थीं। यूँ तो स्वयं हिन्दी साहित्य का इतिहास एक लम्बे समय तक अपने अस्तित्व

के लिए संघर्ष करता रहा लेकिन गार्सा द तासी से लेकर और आचार्य शुक्ल से गुजरते हुए, बच्चन सिंह तक उसकी आँखें नहीं खुलीं। ''हिन्दी साहित्य के इतिहास का जिन लोगों ने अध्ययन किया है उन्हें भली भांति ज्ञात है कि पुरुष कवियों की भाँति स्त्री कवियों ने भी भाषा के भंडार की पूर्ति करने में वास्तविक और बहुत कुछ प्रयत्न किया है। तुलसी, बिहारी, देव, पद्माकर आदि का नाम प्राचीन साहित्य के उद्धारकों में लिया जाता है तो मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई और सुन्दरिकुँवरि बाई आदि ने उसके उद्धार का कम प्रयत्न नहीं किया।''[2] यदि कुछ सीमा तक मिश्रबन्धु विनोद को छोड़ दिया जाये तो यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि आरम्भ और मध्य के सभी साहित्येतिहास पुरुषवादी मानसिकता से लिखे गये हैं। यह वह मानसिकता है जिसमें साहित्यकार का अर्थ पुरुष साहित्यकार होता है। जहाँ लिंग-परिवर्तन में कवि का कवि ही होता है कवयित्री नहीं।

कबीर और तुलसी को हिन्दी साहित्य में जो स्थान प्राप्त है वह किसी दूसरे साहित्यकार को नहीं। ऐसे में यदि यही साहित्यकार स्त्री के स्त्रीत्व की आलोचना करेंगे तो उनका उद्धार होना असम्भाव्य हो जायेगा। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि मध्यकाल में हुआ भी यही। कबीर सरीखे समाज-सुधारक व्यक्तित्व ने नारी की तुलना नरक के कुंड और धतूरे से कर दी, उसे भक्ति, मुक्ति और ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में बाधा बताया। यहाँ तक कह दिया गया कि–

सुन्दरि थें सूली भली, बिरला बचै कोय।
लोह निहाला अगनि मैं, जलि बलि कोइला होय॥[3]

कबीरदास का अनुसरण करते हुए तुलसीदास ने भी नारी की तुलना पशुओं से कर दी और उसे उन्हीं के समान दंड का भागी माना।

साहित्येतिहास की सामाजिक भूमि पर स्त्रियों की यह स्थिति है तो स्त्री-रचनाकारों और उसमें भी दलित-बहुजन कवयित्रियों की क्या स्थिति रही होगी इसका अनुमान हृदय की सिहरन से लगाया जा सकता है।

इस लेख में हम इन कवयित्रियों की सामाजिक पृष्ठभूमि को चिन्हित करने के लिए 'बहुजन' अथवा 'दलित-बहुजन' शब्दावली का प्रयोग करेंगे। इन कवयित्रियों में से अधिकांश समाजिक क्रम में 'अछूत' अथवा आज की 'अनुसूचित जाति परिवारों से न होकर उन शूद्र जातियों से थीं, जिनके साथ अस्पृश्यता नहीं बरती जाती है। इनमें चारण परिवारों की महिलाएं व दासी-पुत्रियां शामिल हैं। इनसे संबंद्ध जातियां आज ओबीसी के रूप में जानी जाती हैं। संभव है कि भारत की सर्वव्यापी वर्ण-व्यवस्था द्वारा प्रताड़ित इन महिलाओं में से कुछ आज की दलित जातियों में से भी हों, लेकिन उन्हें अलग से चिन्हित करना एक स्वतंत्र शोध की मांग करता है। अतएव, इस लेख के लिए 'दलित-बहुजन' शब्दावली उपयुक्त होगी।

बहरहाल, हिन्दी साहित्येतिहास ने जब अपनी मिचमिचाती हुई आँखों से

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

लेखिकाओं की ओर देखा तो उसे आज के बहुजन समुदाय की एक भी लेखिका नहीं नज़र आई। झीमा चारिणी, पद्मा चारिणी, उमा, पार्वती, मुक्ताबाई, खगनिया, ताज़, शेख रंगरेजिन, चंद्रकलाबाई, रूपमती बेगम, सुन्दरकली, मधुरअली आदि दलित-बहुजन कवयित्रियों को सिरे से ही खारिज कर दिया गया। उन्होंने इस बात को नज़रअन्दाज कर दिया कि गुरु महिमा, योग, माया, मोह, कृष्ण भक्ति और शृंगार चेतना की गूढ़ अभिव्यक्ति दलित-बहुजन लेखिकाओं के काव्य में भी हो सकती है।

मध्यकालीन समाज में सती-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, पुत्र-प्राप्ति जैसी विभिन्न जड़ताओं के बीच उमा, पार्वती, मुक्ताबाई सरीखी समर्थ कोटि की दलित-बहुजन सन्त हो गयी हैं। इनके काव्य में हमें पुरुष सन्तों की भाँति ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना, गुरु महिमा, योग, हठयोग, मोह त्याग, धन, सुख, ऐश्वर्य की उपेक्षा, कामिनी से विरक्ति, दीनता और तुच्छता के भाव दृष्टिगत होते हैं।

उमा भी किसी सन्त को गुरू बनाकर उनसे सतगुरू का भेद जानने की जिज्ञासु कोई दलित-बहुजन शिष्या ही प्रतीत होती है। उन्होंने पंचतत्त्व से निर्मित शरीर रूपी उद्यान में प्रेम रस की पिचकारी और ज्ञान गुलाल से जो फाग खिलवाया है, वह उनकी तीव्र अनुभूति और कल्पना शक्ति का सही परिचय प्रदान करता है। उनके राम कबीर की भाँति निर्गुण ब्रह्म ही है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

ऐसे फाग खेले राम राय।
सुरत सुहागण सम्मुख आय॥
पंच तत्त्व को बन्यो है बाग।
जामें सामन्त सहेली रमत फाग॥
जहँ राम भरोसे बैठे आय।
प्रेम पसारी प्यारी लगाय॥
जहाँ सब जनन को बन्यो है, ज्ञान गुलाल लियो हाथ।
केसर गारो जाया॥[4]

तत्कालीन भक्ति सगुण और निर्गुण के फेर में पड़ी हुई थी। लेकिन स्त्री-मन की व्यथा न तो सगुण ब्रह्म समझ पा रहा था और न निर्गुण ब्रह्म। स्त्री-मन एक ऐसे ईश्वर की खोज में था जो निर्गुण होते हुए भी सगुण हो और सगुण होते हुए भी निर्गुण, ताकि वह स्त्री-हृदय पर एकाधिकार न स्थापित कर सके। वास्तव में यही स्त्री-मन का योग है जो हमें किसी भी मध्यकालीन पुरुष सन्त में नहीं दिखाई देता। किन्तु सन्त उमा इसी मिश्रित रूप की कल्पना करती हैं।

सैंया हो मेरी सब ही न बीरी हों सुनो।
करुणानन्द सामी अरज सुनो॥
कामी, कपटी, क्रोधी मन बसु लालच में अति लीन!
अधम उधारन विरद तुम्हारो सो क्यों होवेगा दीन?

जो तुम तारी सन्तन का हो मेरी समारत नाहिं।
अधम उधारन नाम सुना हो, खुसी रहुँ मन माँह।[5]

इसी कड़ी में मुक्ताबाई भी एक प्रसिद्ध सन्त हो गयी हैं जो महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर महराज की बहन थीं। "उक्त महाराज के बड़े भाई निवृत्तिनाथ तथा छोटे सोपानदेव थे। मुक्ताबाई अपने बन्धुओं में सबसे छोटी थीं। आप मराठी भाषा की आदि स्त्री-कवि हैं। आपका रचनाकाल संवत् 1345 के लगभग कहा जाता है। हिन्दी भाषा का सौभाग्य है कि मुक्ताबाई सदृश्य महाराष्ट्रीय विदुषी ने इसे अपनी कृति से अलंकृत किया है।"[6] इन्होंने भी ईश्वर के निर्गुण रूप की ही उपासना की है। इनकी वृत्ति हठयोग की ओर अधिक रही है। वे इतनी सहज प्रवृत्ति की थीं कि साधुओं के दर्शन मात्र से ही मुग्ध हो जाया करती थीं। उन्होंने स्वयं के विषय में लिखा है कि—

जहाँ तहाँ साधु दसवा आपहि आप बिकाना।[7]

उनका मन योग और सत्संग का आश्रय लेकर आगे बढ़ता है। और एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है जहाँ गुरु और चेले में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं रह जाता। वे लिखती हैं कि

सद्गुरु चेले दोनों बराबर एक दसा भो भाई।[8]

दलित सन्त कवयित्रियों में सन्त पार्वती का नाम भी उल्लेखनीय है। ये भी किसी अज्ञात साधु की शिष्या थीं। इन्होंने भी उमा और मुक्ताबाई की भाँति जीवन और सांसारिक मोह-माया से विराग, धन और भौतिक सुखादि का परित्याग, यौवन की उपेक्षा जैसे मूल्यों को अपनी लेखनी का आधार बनाया है। ये शुष्क योगमार्ग की यात्री हैं। इसलिए ये ऐसे पुरुष की कल्पना करती हैं जो संसार से विराग रखता हो, कामत्व को धता बताता हो और जो पंचेन्द्रियों का स्वामी हो और उनके अनुसार यह एक योगी पुरुष ही कर सकता है—

धन जोवन की करै न आस।
चित्त न राखे कामिनी पास।
नाद बिन्दु जाके घट जरै।
ताकि सेवा पारवती करै॥[9]

उक्त सन्त कवयित्रियों के अतिरिक्त झीमा चारिणी, पद्मा चारिणी और बिरजूबाई जैसी चारण लेखिकाएँ भी हुई हैं जिनमें झीमा, पद्मा ने राजाश्रय में रहकर और बिरजूबाई ने बगैर राजाश्रय के अपनी लेखनी चलाई।

झीमा चारिणी बीकानेर राज्य के बीठू चारण की बहन थीं। उसका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी से 1560 के लगभग अनुमान किया जाता है। झीमा गीत, संगीत में प्रवीण थी और कविता में भी ठीक-ठाक हाथ रखती थी। झीमा के काल में खीचीवंश का राजा अचलदास कोटा पर राज्य कर रहा था, जिस पर उसकी सखी उमादे आसक्त

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

थी। झीमा ने अपनी बुद्धि और चातुर्य का परिचय देते हुए न केवल अचलदास के यहाँ अपनी जीविका हेतु आश्रय पाया अपितु अपनी सखी उमादे का विवाह भी राजा से करा दिया। कला और सौन्दर्य की कोमलता के साथ राजनीति और युद्ध की कटुता का मिश्रण कर उसने कई विपक्षी राजाओं को षड्यंत्र में फँसाकर अपने आश्रयदाता का नमक चुकाया। उसने वीर काव्य की भी रचना की और शृंगार काव्य की भी। इस पर उसे कई मर्तबा आश्रदाता से अश्व और गज भी पुरस्कारस्वरूप प्राप्त हुए।

झीमा और उमादे की यह कथा लोक प्रचलित है कि किस प्रकार उसने उमादे को अचलदास से मिलाया। लेकिन विवाह के सात वर्ष पश्चात् भी उमादे और राजा अचलदास का संयोग न हो सका। वे अपनी प्रथम पत्नी लालादे की समीपता के बाँध को ही नहीं तोड़ पा रहे थे और उधर उमादे की हालत दिन-प्रतिदिन वियोग में बिगड़ती जा रही थी। ऐसे में झीमा ने राज्य में यह खबर फैला दी कि उमा के पास एक अद्भुत हार है जिसे वह राजा को ही देगी। हार के लालच में प्रथम पत्नी लालादे ने राजा अचलदास को उमादे के पास भेज दिया। राजा के दर्शन पाकर उमादे गद्गद् हो गयी और अपने प्रेम कलश के संपूर्ण मोती राजा पर लुटा दिये। इस पर झीमा ने यह पंक्तियाँ कहीं–

धिन उमादे साँखली, तै पिय लियो मुलाय।
सात बरसरो बांछड़यो, तो किम रैन बिहाय॥
किरती माथे ढल गयी, हिरणी लूबाँ खाय।
हार सटे पिय आणियों, हँसे न सामो थाय॥
अचल एराक्या न चढ़े, रोढा रो असवार।
लाला लाल मेवाड़ियाँ, उमा तीज बल भार॥[10]

(उमादे सखी तू धन्य है! आज तूने प्रियतम को क्रय कर लिया, सात लम्बे वर्षों का यह वियोग काल कैसे व्यतीत किया है? कृतिका ढल गयी, मृगशिरा उदित है। तुम्हें हार के बदले तुम्हारा प्रिय मिला है, पर अभी तुम दोनों के बीच हास्य नहीं फूटा। लाला दे मेवाड़ की रत्न है पर उमा के सौन्दर्य का बल उससे तिगुना है, परन्तु अचल एराकी अश्व पर नहीं रोढे पर चढ़ता है।[11])

कवयित्री पद्मा चारिणी का समय ईस्वी सन् 1597 के लगभग माना जाता है। यह चारण माला जी साहू की पुत्री तथा बारहट शंकर की पत्नी थीं। बीकानेर राज्य के अन्तःपुर में यह जीविका निर्वाह के लिए रहती थीं। अभी तक इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है, केवल कुछ फुटकल पंक्तियाँ हैं और कुछ किंवदंतियाँ। कहा जाता है कि बीकानेर नरेश अमर सिंह अकबर की राजनीतिक संधियों से सहमत नहीं थे और इसलिए अमर सिंह ने अकबर के विरुद्ध युद्धघोष कर रखा था। चूंकि अकबर की विशाल सेना का सामना करना अमर सिंह के लिए असम्भव था परिणामस्वरूप अकबर ने अमर सिंह के संपूर्ण राज्य को चारों ओर से घेर लिया। राज्य में उस समय राजा सोये हुए थे और उन्हें उठाने का जोख़िम कोई नहीं लेना चाहता था इसलिए यह भार पद्मा चारिणी पर डाल दिया गया। ऐसी स्थिति में पद्मा ने राग छेड़ उनकी नींद भंग की। उस गीत की एक झलक इस प्रकार है–

जाग जाग कल्याण जाया।[12]

पद्मा के राग से राजा की निद्रा टूटी और आक्रमणकारियों को परास्त करते हुए वह स्वयं भी वीरगति को प्राप्त हो गये। साथ ही राजा की रक्षिताएँ और पत्नियाँ सती हो गयीं। कहा जाता है कि पद्मा ने उन सतियों की वीरता पर कई दोहे कहे हैं जो आज प्राप्त नहीं हैं।

चारण कवयित्रियों में बिरजूबाई का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका रचनाकाल सन् 1743 के लगभग माना जाता है। ये जोधपुर के महाराजा श्री अभय सिंह जी की राज्य सभा में रहने वाले चारण कविराज करनदीन की बहन थीं। अपने भाई के समान वे भी भड़कीले गीतों और कवित्तों की रचना करती थीं। यद्यपि वे किसी राजा के अन्तःपुर में नहीं रहती थीं और स्त्री होने के कारण उन्हें दरबार में किसी राजा के प्रशस्ति गान की भी अनुमति नहीं थी, किन्तु उनमें कविता लिखने की रुचि अवश्य थी। माना जाता है जब उनका भतीजा चंपावत ठाकुर प्रताप सिंह के यहाँ जाने लगा तो चारण परिवार का होते हुए कविता न लिख पाने की अक्षमता उसे कचोटने लगी। ऐसी स्थिति में बुआ बिरजूबाई ने अपने भतीजे को राजा के अश्वों और उसकी दान की प्रशस्ति पर ये पंक्तियाँ लिखकर दीं–

कहो सुचाला ऐराकी, नाव जेरी की बख़ाण कीजै।
ऐराकी रूप में आछा नाखा रीझावर पती।।
रीझाँ दे ऐराकी काछी एहा बाजराज।
छछेका बछेक रथा।[13]

पिछड़ी जाति की कवयित्रियों में खगनिया नाम की भी एक गुणवान लेखिका हो गयी हैं। इसका रचनाकाल 1660 विक्रमी अनुमान किया जाता है। ये जिला उन्नाव में रणजीत पुरवा ग्राम की रहने वाली थी। इसके पिता का नाम बासु था और जाति की तेलिन थी। ये कोई खास पढ़ी-लिखी तो नहीं थी लेकिन अमीर ख़ुसरो की भाँति पहेलियाँ बनाने में बड़ी प्रवीण थीं। साधारण जनमानस में इसकी पहेलियाँ खूब प्रसिद्ध थीं। कई लोगों को इनकी पहेलियाँ कंठस्थ थीं। अपने नाम, गाम और ठाम का परिचय खगनिया इस प्रकार देती है–

सिर पै तेल की मेटी
घूमति हौं तेलिन की बेटी।
कहौं पहेली बहले हिया,
मैं हौं बासू केर खगनिया॥[14]

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

खगनिया ने गज, हाथी, कंघी, चोली, दवात, कचौरी, भौंरा, नाड़ी, तलवार, रुपया, ताला, काजल, आँख और कोल्हू का बैल पर बहुत सारी पहेलियाँ कही हैं। उनकी पहेलियों में तत्कालीन समाज और सामाजिकों की प्रवृत्ति भी झाँकने को मिलती है। उनकी कुछ पहेलियाँ द्रष्टव्य हैं—

बाम्हन खावै पेटवा फार, लाली है रंगति वहि क्यार।
नेरे नहिं दूर माँ रहै, बासु केरि खगनिया कहै॥ (कचौरी)[15]
या
आँखिन माँ सब *लेंय लगाय, लरिका वाते हैं सुख पाय।*
तनुक न ऊजर कारो रहै, बासु केरि खगनिया कहै॥ (काजल)[16]

उपर्युक्त काव्य रसिकाओं के अतिरिक्त कुछ कृष्णभक्त दलित-बहुजन कवयित्रियाँ भी हो गयी हैं। इनमें ताज़, शेख रंगरेजिन और चंद्रकला बाई का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। तीनों ने ही कृष्ण के रूप सौन्दर्य की भिन्न-भिन्न छटा अपने काव्य में बिखेरी है।

ताज़ पंजाब की रहने वाली कृष्णभक्त कवयित्री थीं। इनके विषय में कहा जाता है कि नित्यप्रति ये नहा धोकर भगवान के दर्शन करती थीं। लेकिन एक दिन वैष्णवों ने इन्हें विधर्मी कहकर मन्दिर में घुसने ही नहीं दिया। इस पर 'ताज़' मन्दिर के बाहर ही भूखी प्यासी बैठी रहीं। रात को जब सब वैष्णव लौट गये तो स्वयं कृष्ण भगवान ने आकर इन्हें खाने का थाल परोसा और ताज के साथ घटी सारी बात को वैष्णवों को बतलाने के लिए कहा। अगले दिन सुबह जब सभी वैष्णव पूजा हेतु आए तो ताज़ ने सारी घटना उन्हें कह सुनाई। ये सुनते ही सभी वैष्णव उनके चरणों में गिर गये और फिर कभी मन्दिर में जाने से उन्हें नहीं रोका। तब से ये और गूढ़ कृष्ण भक्त हो गयी हैं।

ताज़ ने कृष्ण के बाल-रूप तथा युवा-रूप की कई छटाएँ अपने काव्य में उकेरी हैं। उल्लेखनीय है कि तत्कालीन समाज की अधिकांश लेखिकाएँ हिन्दू थी तब उन्हें समाज की कंटकताओं का सामना करना पड़ा तो मुसलमान कृष्णभक्त कवयित्रियों को किन-किन वर्जनाओं का सामना करना पड़ा होगा। खासतौर पर तब जब ताज़ कृष्ण को अपना साहेब स्वीकार करती हों। उनकी बेबाकी की एक झलक देखिए—

छैल जो छबीला सब रंग में रंगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला सब देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहे, नाक मोती सेत सोहै कान,
मोहे मन कुंडल मुकुट सीस धारा है।
दुष्ट जन मारे, सन्त जन रखवारे 'ताज'
चित हित वारे प्रेम प्रीति कर वारा है।
नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृंदावन वारा कृष्ण साहेब हमारा है॥[17]

जहाँ तक प्रेम की बात है तो किसी भी हिन्दू कवयित्री में ताज़ जैसी फक्कड़ता नज़र नहीं आती। वह निर्भय होकर कृष्ण को अपना दिलजानी स्वीकार करती हैं। उसके लिए हर प्रकार की बदनामी का सामना करने के लिए भी तैयार है। यहाँ तक कि न्यारे कृष्ण के लिए वह अपले धर्म-परिवर्तन के लिए भी तत्पर दिखाई देती हैं। इसलिए अपनी प्रीत की घोषणा वे बड़ी बेबाकी से करती हैं तथा तत्कालीन समाज की सारी वर्जनाओं को ताक पर रख देती हैं और पूरा समाज देखते रह जाता है—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी, मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान साढ़े गुनन गहूँगी मैं।
स्यामला सलोना सिर ताज कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तोरी सूरत पै,
त्वाढ़ नाल प्यारे हिन्दुवाणी ह्वै रहूँगी मैं॥[18]

शेख रंगरेजिन जिनका कि विवाह प्रसिद्ध कवि आलम से हो गया था और जो कपड़े रँगकर अपना जीवन-निर्वाह किया करती थीं, ने भी बालकृष्ण की खूबसूरत झाकियाँ अपने काव्य में प्रस्तुत की हैं। उन्होंने कहीं-कहीं तो कृष्ण भक्त सूरदास के समान ही वात्सल्य की छटा बिखेर दी है। किन्तु उसमें स्त्री-सुलभ भाव के आ जाने से वह नमकीनियत आ गयी है जो हमें सूरदास में भी देखने को नहीं मिलती। शेख रंगरेजिन का यह पद देखिए जिसमें बालकृष्ण ने अपनी बंसी कहीं लुका दी है और तंग करने शेख के पास पहुँच गया है—

बीस विधि आऊँ दिन बारीये न पाऊँ और,
याही काज वाही घर बाँसनि की बारी है।
नेकु फिरि ऐहैं कैहैं दै री दे जसोदा मोहिं,
मो पै हठि माँगैं बंसी और कहूँ डारी है।
'सेख' कहै तुम सिखवो न कछु राम याहि,
भारि गरिहाइनु की सीखे लेतु गारी है।
संग लाइ भैया नेकु न्यारो न कन्हैया कीजै,
बलन बलैया लैकै मैया बलिहारी है॥[19]

कृष्णभक्ति काव्य में और रंग भरने वाली एक और बहुजन कवयित्री हैं चंद्रकला बाई। इनका जन्म बूँदी राज्य में हुआ था। कविराज गुलाब सिंह बूंदी के प्रसिद्ध कवि और दीवान थे। चंद्रकलाबाई गुलाब सिंह जी की दासी की पुत्री थीं। इनका जन्म

विक्रम संवत् 1923 में हुआ था। चंद्रकला बाई ने अनेक सवैया और कवित्तों का निर्माण किया है जिनमें उन्होंने युवा कृष्ण की राधा से नोंक झोंक, राधा का रूप-सौन्दर्य, राधा का मान, होली के गीत और भाव, बसन्त ऋतु का प्रभाव, स्त्रियोचित गुणों की बान तथा कई पहेलियाँ लिखी हैं। एक पद में राधा के रूप-सौन्दर्य की छटा देखिए जहाँ उसके सौन्दर्य के आगे चंद्रमा का रूप भी फीका पड़ गया है।

नैकौ एक केश की न समता सुकेशी लहै,
नैनन के आगे लगै कमल रूमालची।
तिल सी तिलोत्तमाहू रति हू रती सी लगै,
सनमुख ठाढ़ रहै लाल हित लालची।
'चंद्रकला' दान आगे दीन कलपवृक्ष लागै,
वैभव के आगे लागै सुरप कुदालची।
धन्य-धन्य राधे वृषभानु की दुलारी तोहिं,
जाके रूप आगे लगे चन्द्रमा मसालची॥[20]

कृष्णभक्ति के अतिरिक्त कृष्ण और राधा के माध्यम से कवयित्रियों ने अपनी श्रृंगारिक चेतना का भी उद्‌घाटन किया है। चंद्रकला बाई एक कवित्त में राधा की अलसाती आँखों और आँखों के कोरों की प्रशंसा कर रही हैं, देखिए–

रात के उनींदे अलसाते मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सोहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरे लेत काठे जिउ,
केते भय घायल औ केते तलफात हैं।[21]

मध्यकालीन बहुजन कवयित्रियों में कुछ ऐसी भी हुईं हैं जिन्होंने कृष्णभक्ति से इतर स्थूल प्रेम को भी अपनी कलम के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है। इनमें रूपमति बेगम, मधुर अली, सुन्दर कली आदि का नाम प्रमुख है। दरअसल, ये मुगलकालीन कवयित्रियाँ हैं और इन्होंने मुगलों के महलों का विलास वैभव देखा था। इसलिए इस काल की कवयित्रियों में श्रृंगारिकता की छटा का दृश्यमान होना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में रूपमति बेगम का नाम सम्मान से लिया जा सकता है। इनके काव्य कौशल और संगीत निपुणता पर मालवा के नवाब बाज़बहादुर मुग्ध हो गये और उन्होंने उसे बतौर अपनी प्रियसी महल में बुला लिया। कालांतर में मालवा पर अकबर का आक्रमण हुआ जिसमें बाज़ बहादुर परास्त हो गये। कहा जाता है कि रूपमति बेगम मुगलों के हाथों बे-आबरू न हो जाये इसलिए बाज़बहादुर के सैनिकों ने ही उन्हें कत्ल करने का प्रयास किया पर वो बच गयीं। लेकिन बाद में बाज़ के विरह में यह दोहा लिखकर दम तोड़ दिया–

रूपमति दुखिया भई, बिना बहादुर बाज़।
सो अब जियरा तजत है, यहाँ नहीं कछु काज॥

श्रृंगार काव्य की रचयित्रियों में मुसलमान लेखिकाओं की संख्या अधिक है। सुदर कली भी एक मुसलमान स्त्री है। इनके जीवन और रचनाकाल के विषय में कुछ भी कहना अभी मुश्किल है किन्तु इनका रचनाकाल 19वीं. शताब्दी से पूर्व का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि इनकी भाषा आधुनिक काल की नहीं लगती। उन्होंने 'सुन्दरकली का बारहमासा' नाम से एक ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ का आरम्भ ग्रीष्म वर्णन से होता है। छंद, रस, अलंकार आदि तत्त्वों से रहित इन पंक्तियों में भावनाजन्य अनुभावों की छटा देखिए–

जो ऐसी रात है पी को मिलावे। गले से गल लगा के संग सोलावे॥
आह सा आषाढ़ निपट गरमी कहे रे। पसीना तन से तो धारी चले रे॥
मेरे मन में वीरह की आग लागी। अगिन के बीच में जलती अभागी॥
अगिन ने सब तरह से तन को जारा। हमारा तन हुआ सारा अंगारा॥
न ऐसा है कोई जो अगिन को बुझावै। बुझाय वही जो पिया की खबर लावै॥[22]

जहाँ तक भाषाकला का सवाल है तो आधारभूत काव्य-गुण हमें ताज़ बीबी, शेख रंगरेजिन और चंद्रकला बाई की रचनाओं में दृष्टिगत हो जाते हैं। रस, अलंकारो का अपेक्षित आभास हमें इनकी रचनाओं से हो जाता है। ताज़ बीबी ने एक कवित्त में जमुना नदी के किनारे आती हुई राधा की चाल की चटक की ऐसी भूरी-भूरी प्रशंसा की है कि उसके सम्मुख मछली की चाल भी फिकी पड़ गयी है। इस प्रकार व्यतिरेक अलंकार स्वयं ही प्रस्फुटित हो गया है। कवितांश देखिए–

राधे की चटक देखे अँखिया अटक रहीं,
मीन को मटक नाहिं साजत वा दिन की॥[23]

इसी प्रकार शेख रंगरेजिन ने एक कवित्त में प्रेम में मदमस्त प्रेमी की स्थिति का बड़ा ही अनुप्रासमयी वर्णन किया है। शेख ने बतलाया है कि किस प्रकार प्रेम में डूबे हुए व्यक्ति का अपनत्व, परत्व हो जाता है और उसकी चाल किस प्रकार मादक हो जाती है। कवितांश देखिए–

ढीली ढीली डगैं भरौ ढीली पाग ढरि रही,
ढरे से परत ऐसे कौन पर ढहे हो।
गाढ़े जु हिया के पिय ऐसी कौन गाढ़ी तिय,
गाढ़ी गाढ़ी भुजन सों गाढ़े गाढ़े गहे हो॥[24]

यहाँ ढीली-ढीली, गाढ़ी-गाढ़ी, गाढ़े-गाढ़े में अनुप्रास का बड़ा ही मनोहारी और हृदयग्राही प्रयोग किया है।

इसी प्रकार रस व्यंजना में भी इन लेखिकाओं ने खूब मन रमाया है। मुख्य तौर पर इनकी कविता में श्रृंगार रस, करुण रस और वीर रस का परिपाक हुआ है। श्रृंगार रस के दोनो पक्षों, संयोग श्रृंगार और वियोग श्रृंगार की अभिव्यंजना इनकी कविता में हुई है। शेख ने एक स्थान पर संयोग श्रृंगार का ऐसा चित्रण किया है जिसमें कृष्ण

प्रेम के अति प्रभाव से वशीभूत होकर नायिका अपनी सुध-बुध खो बैठी है।

हरि रस राती 'सेख' नेकहूँ न होइ हाती,
प्रेम मदमाती न गनति दिन राति है।
जब जब आवति है तब कछु भूलि जाति,
भूल्यो लेन आवति है, और भूलि जाति है॥[25]

शेख द्वारा प्रस्तुत वियोग श्रृंगार का भी एक दृश्य देखिए जिसमें श्री कृष्ण और राधा दोनों मान की अग्नि में तप रहे हैं। राधा की सखी जाकर राधा को समझाती है कि तेरे बिन कृष्ण का मन न तो गैया चराने में रमता है और न ही बाँसुरी बजाने में लग रहा है और उनके मुकुट पर सुशोभित मोरपंख भी अस्त-व्यस्त हो रहा है। हे राधे तुम्हें श्याम सलोने से जाकर मिलना चाहिए। काव्यांश देखिए–

'सेख' कहै प्यारी तू जौ जबहीं ते बन गयी,
तब हीं ते कान्ह अँसुवनि सर करे हैं।
याते जानियति है जू वेऊ नदी नारे नीर,
कान्ह बर विफल बियोग रोय भरे हैं॥[26]

इसके अतिरिक्त चंद्रकला बाई के काव्य में हमें कहीं-कहीं वीर रस की भी झलक देखने को मिल जाती है जिसमें वह सेना के प्रयाण करने का भयावह चित्र प्रस्तुत करती हैं। वे अपनी सखी समक्ष युद्ध के लिए जा रही सेना का बिंब इस प्रकार बाँधती हैं–

घन हैं न कारे-कारे भारे गजराज हैं री,
बगुला न स्यंदन समूहन की राजी है।
जुगुनू न सायुध चमकदार वीर ये हैं,
चातक न बोलिया जकीबन ने साजी है॥[27]

इन बहुजन कवियित्रियों की भाषा और उसकी लय जब हृदय की लय से मेल खाती है तो नये काव्य गुण स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। इसलिए इनकी हरेक कविता को जिज्ञासु आँखों से देखना ज्यादा श्रेयस्कर है ताकि कवि और उसकी कविता का देश और काल के मध्य रखकर न्याय किया जा सके। हमारे लिए उक्त बहुजन कवयित्रियों का मिल जाना ही उपलब्धि स्वरूप है और चुनौती यह है कि पोथी खानों में पड़ी हुई इनकी काव्य-कृतियों को खोजकर उन्हें समाज को समर्पित किया जाये।

सन्दर्भ

1. डॉ. सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, प्रस्थान, पृष्ठ-7
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य-विमर्श, स्त्री-साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याएँ, पृष्ठ-13
3. श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, कामी नर कौ अंग, पुष्ठ संख्या-79
4. जगदीश्वर चतुर्वेदी/सुधा सिंह, स्त्री काव्यधारा, पृष्ठ संख्या-26
5. जगदीश्वर चतुर्वेदी/सुधा सिंह, स्त्री काव्यधारा, पृष्ठ संख्या-26
6. मिश्रबन्धु, मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ संख्या-81,82
7. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-49
8. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-49
9. जगदीश्वर चतुर्वेदी/सुधा सिंह, स्त्री काव्यधारा, पृष्ठ संख्या-57
10. सवित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-29
11. सवित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-29.30
12. सवित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-31.32
13. सवित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-33.34
14. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-74
15. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-75.76
16. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-75.76
17. जगदीश्वर चतुर्वेदी/सुधा सिंह, स्त्री काव्यधारा, पृष्ठ संख्या-46
18. भजन-संग्रह, गीता प्रेस, गोरखपुर, विक्रम संवत्, 2066, पृष्ठ संख्या-300
19. जगदीश्वर चतुर्वेदी/सुधा सिंह, स्त्री काव्यधारा, पृष्ठ संख्या-46
20. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-174
21. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-79
22. सवित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ संख्या-275
23. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-73
24. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-84
25. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-83
26. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-80
27. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, पृष्ठ संख्या-17

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली. 11003
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली. 110002
3. श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद. 211001
4. जगदीश्वर चतुर्वेदी/सुधा सिंह, स्त्री काव्यधारा, अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली. 110002
5. मिश्रबन्धु, मिश्रबन्धु विनोद, श्री दुलारेलाल भार्गव अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ.
6. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली. 110006
7. ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री-कवि-कौमुदी, अन्तरा प्रकाशन दिल्ली. 110093
8. भजन-संग्रह, गीता प्रेस, गोरखपुर

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

दलित-स्त्री और हिन्दी आलोचना के प्रतिमान

रामनरेश राम

अँग्रेजी में प्रतिमान को ‘कैनन’ कहते हैं। कैनन लेखन का वह हिस्सा होता है जो किसी लेखक द्वारा उद्धृत किया जाता है। पवित्र लिपियों वाली वे पुस्तकें भी कैनन कहलाती हैं। जो धार्मिक नेताओं द्वारा स्वीकार की जाती हैं। साहित्यिक लेखक का वह काम भी जो किसी विद्वान् द्वारा प्रामाणिक सन्दर्भ के लिए प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रीय साहित्य का कैनन लेखक का वह हिस्सा है जो किसी आलोचक या मानवशास्त्री द्वारा प्रमाणित किया जाता है और अकादमिक अध्ययन के लिए उपयुक्त पाया जाता है।[1] ‘कैनन’ पद का प्रयोग बहुतायत साहित्यिक कृतियों पर चर्चा के सम्बन्ध में प्रयोग होता है।

कैनन का अस्तित्व इस बात की ओर इशारा करता है कि कुछ कृतियाँ हैं जो बहुत ही मूल्यवान हैं जिसको पीढ़ियाँ संस्कृति के भीतर साहित्यिक परम्परा के केन्द्र के रूप में स्वीकार करती हैं। उदाहरण के रूप में ब्रिटिश अँग्रेजी साहित्य की राष्ट्रीय परम्परा के भीतर शेक्सपियर को कैनन के रूप में सन्दर्भित किया जाना जारी है और वास्तव में वह लेखक है जिसका काम इग्लैण्ड और वेल्स में 1985 से लगातार अँग्रेजी साहित्य की चर्चाओं और अँग्रेजी के राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम में पाठ्यक्रम के लिए प्रमाण के तौर पर उल्लेख किया जाता है।

अँग्रेजी-हिन्दी शब्द कोशों में ‘कैनन’ के निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—

1. धर्म निरपेक्ष कानून, नियम या संहिता
2. निर्णय, मानदण्ड या कसौटी का आधार
3. चर्च द्वारा औपचारिक रूप से अनुमोदित बाइबिल, किताबें
4. रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा मान्य सन्तों का कैलेण्डर
5. लेखक के लेखन की प्रामाणिक सूची
6. नियमों-प्रतिज्ञाओं से बँधा किसी धार्मिक समूह का व्यक्ति
7. संगीत, एक रचना या अनुच्छेद

8. छपाई की एक प्रकार की नाप
9. गिरजे में कार्यरत पुजारियों का एक समूह
10. गिरजे सम्बन्धी कानून, चर्च समितियों द्वारा स्थापित विधियों की नियमावली[2]

‘गाइड टू लिटरेरी टर्म्स’ में जैक लिंच ने साहित्यिक कैनन की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए लिखा—साहित्यिक कैनन का पद साहित्य के वर्गीकरण को निर्दिष्ट करता है। यह पद किसी विशिष्ट मात्रा या देश में घटित सबसे प्रमुख समझे जाने वाले साहित्यिक कार्यों के समूह के लिए व्यापक तौर पर इस्तेमाल किया जाता है।[3]

अब हम देखेंगे कि ‘प्रतिमान को हिन्दी के आलोचक किन अर्थों में लेते हैं। नामवर सिंह का मानना है कि प्रतिमान ‘हायरार्की ऑफ वैलूज’ है। जबकि तेज सिंह ने डॉ. नगेन्द्र के हवाले से दिखाया है— आलोचना के प्रतिमान मूलतः साहित्य के प्रति आलोचक के दृष्टिकोण के प्रतिफलित रूप हैं।[4]

विनोद साही ने हिन्दी आलोचना में प्रतिमानों की अनुपलब्धता पर प्रकाश डालते हुए लिखा—हिन्दी आलोचना की बुनियादी खामी और अक्षमता यह है कि उसके पास साहित्य की समझ और व्याख्या के लिए ‘अपने’ प्रतिमान नहीं हैं। और हमारी समीक्षा का दुर्भाग्य इस बात में निहित है कि प्रतिमानों के अभाव में अब हम अच्छे और बुरे साहित्य के बीच फर्क करने की तमीज और नियत— दोनों खोते जा रहे हैं।[5]

उपर्युक्त वक्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी आलोचना के पास प्रतिमान तो हैं लेकिन ‘अपना’ प्रतिमान नहीं है। लेकिन ‘कैनन’ की दी गयी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हर साहित्यिक आलोचना के अपने प्रतिमान अवश्य होते हैं। आलोचना में प्रतिमान ऐसा मानक है, जिसको आधार बनाकर आलोचक किसी कृति या साहित्य की आलोचना करता है। समय और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ आलोचना के प्रतिमान भी बदल जाते हैं। विनोद साही के अनुसार—तेजी से बदलते प्रतिमान और रुचियों के चेतना-उत्पादों की भरमार लोगों को कुछ सोचने-समझने की फुर्सत ही नहीं देती।[6]

साहित्य में आलोचनात्मक प्रतिमान आलोचक की पूर्वमान्यताएँ, संस्कार और दार्शनिक अवधारणात्मक दृष्टि से नियंत्रित और निर्मित होते हैं। इसीलिए आलोचक का सौन्दर्य-बोध, उसके दर्शन-बोध और इतिहास-बोध से गहरे रूप से जुड़ा हुआ होता है। हिन्दी आलोचना भी इस अवधारणात्मक दृष्टि से अलग नहीं हो सकती। ‘कैनन’ शब्द जिस अर्थ में पश्चिम में प्रयोग किया जाता है वह ‘प्रतिमान’ के अर्थ को ठीक-ठीक व्यंजित नहीं करता है, अतः उसके लिए मान, मूल्य और मानक शब्द ही उपयोग में लाये जाते रहे हैं। फिर भी हम ‘कैनन’ को प्रतिमान के अर्थ में ही इस्तेमाल करेंगे।

हिन्दी आलोचना में दलित और स्त्री-दृष्टियों ने प्रतिमानों की अलग ही छवि

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

प्रस्तुत की है। अतः स्थापित प्रतिमानों के बहस के साथ ही इन नये प्रतिमानों की यात्रा शुरू होती है। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी आलोचना की शुरुआत होती है जिसमें शुरुआती इतिहास ग्रन्थों और भारतेन्दु काल की आलोचना से ही हिन्दी आलोचना और उसके प्रतिमान आकार ग्रहण करते हैं, लेकिन गद्य के विकास के पहले भी आलोचना की परम्परा मिलती है। तुलसी रामचरितमानस में कहते हैं—किरती भनति भूत भल सोई-सुर सरि सम सब कर हित होई॥ अर्थात् कविता से सबका हित होता है जिसको आगे चलकर रामचन्द्र शुक्ल ने 'साहित्य में लोक मंगल की अवधारणा' से पुष्ट किया। नाभादास के भक्तमाल में भी आलोचना का आरंभिक रूप दिखाई देता है... लेकिन मेरा प्रस्थान बिन्दु साहित्य इतिहास-लेखन से लेकर भारतेन्दु काल तक विकसित आलोचनात्मक प्रतिमानों के निर्माण-प्रक्रिया में हाशियाकरण का अध्ययन करना है। अतः भक्तमाल के आलोचनात्मक अवदान पर चर्चा नहीं की जायेगी।

हिन्दी साहित्य में आलोचनात्मक प्रतिमानों की निर्माण-प्रक्रिया औपनिवेशिक परियोजना की गतिशीलता से निर्धारित होती है। आरंभिक इतिहास-ग्रन्थों से ही प्रतिमानों का निर्धारण शुरू होता है। इसकी प्रक्रिया में प्रतिमानों की रणनीति को एक राजनैतिक एजेण्डा बताते हुए लिखा गया, जिसमें वर्चस्वशाली ज्ञान समूह अपने हित-साधन के लिए उसका निर्माण करता है—आलोचकों का मानना यह भी है कि मूल्य निर्धारण का आधार बनने वाली तथाकथित वस्तुगतता दरअसल एक राजनैतिक एजेण्डा है, जिसका इस्तेमाल साहित्यिक कैनन में अलग-अलग समूहों के प्रतिनिधित्व को रोकने के लिए किया जाता है। इन आलोचकों ने सशक्त तथ्यों के आधार पर यह तर्क निर्मित किया कि सरसरी निगाह से भी 'महान' पश्चिमी साहित्य को देखा जाये तो वहाँ महिलाओं की उपस्थिति नगण्य है। अश्वेतों का प्रतिनिधित्व इससे भी कम है और निम्न वर्गों में पैदा हुए लेखक तो लगभग नदारद हैं। सन्दर्भतः तब यहाँ निश्चित रूप से बहिष्करण की प्रविधि काम कर रही है। लगभग इसी स्थिति की ओर इशारा आज के हिन्दी साहित्य में अस्मितावादी विमर्श (दलित और महिला) भी कर रहे हैं।[7] उपर्युक्त उद्धरण में इस बात की तरफ इशारा है कि किस तरह पश्चिम के साहित्य में प्रतिमान निर्धारण के समय कुछ वर्गों को सचेत रूप से वंचित रखा गया। अब उनके अपने साहित्य में ऐसी स्थिति है तो उनसे भारतीय साहित्य इतिहास लेखन के दौरान प्रतिमान निर्धारण में किस तरह की पूर्वाग्रहमुक्तता की आशा की जा सकती है। विदेशी विद्वान तो साहित्य इतिहास के प्रतिमान निर्धारण में भारत के प्रति अपनी वर्चस्ववादी दृष्टि का ही परिचय देते हैं और अपनी औपनिवेशिक परियोजना की सांस्कृतिक वैधता के औजार के रूप में इसका इस्तेमाल करते हैं।

साहित्य इतिहास-लेखन का आरंभिक काल भारत में नवजागरण काल के रूप में चिह्नित किया जाता है। उस समय तक दो महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान देने योग्य थीं—पहली

तो यह कि हिन्दी साहित्य इतिहास-लेखन का आरम्भ भारतीयों की तरफ से अभी नहीं हो पाया था, जिसकी शुरुआत फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तासी ने की। इसके पीछे भी यह कारण बताया जाता रहा है कि भारतीय समाज में इतिहास-लेखन के लिए अनिवार्य इतिहास-बोध का अभाव है जिसको भारतीय विद्वान नन्दकिशोर आचार्य ने कुछ इस तरह से दिखाया है—भारतीय संस्कृति में ऐतिहासिकता के बोध अथवा इतिहास-चेतना के अभाव की शिकायत को लगभग एक सर्वस्वीकृत मान्यता की तरह अविचारित ही स्वीकार कर लिया जाता है। यही कारण है कि डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे जैसे भारतीय परम्परा के व्याख्याता और दार्शनिक-इतिहासकार भी यह मान लेते हैं कि प्राकृतिक देशकाल में विस्तार और विजय के स्थान पर अन्तर्मुख निवृत्ति के द्वारा उनके अतिक्रमण के लक्ष्य ने भारतीय चेतना को अधिक आकृष्ट किया है...।[8] दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि उस समय के उपनिवेश विरोधी आन्दोलन और सामाजिक सुधार आन्दोलनों में स्त्री और दलित-सवाल केन्द्रीय परिदृश्य में होने के बाद भी आलोचना जगत में विस्थापित किए गये लगते हैं। विस्थापन की यह प्रक्रिया न केवल औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा होती दिखाई देती है बल्कि भारतीय आलोचकों द्वारा भी की गयी। नहीं तो क्या कारण है कि नवजागरण के समय स्त्री-प्रश्न पर केन्द्रीयता होते हुए भी हिन्दी आलोचना के प्रतिमानों में दलित और स्त्री को यह स्थान नहीं प्राप्त हो पाता, जबकि राजा राम मोहन राय ने सती-प्रथा को स्त्री स्वाधीनता के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य से जोड़ा। इसे सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सवाल से जोड़कर उन्होंने एक गहन अध्ययन प्रस्तुत किया, विश्लेषित किया और इस प्रथा के पीछे के अर्थतन्त्र को खोलकर नंगा कर दिया। उन्होंने विस्तार से विधवाओं के अधिकारों पर विचार किया और उनके बारे में मौलिक सोच विकसित किया।[9] हिन्दी आलोचना में 'कैनन' निर्माण में स्त्री और दलित सन्दर्भ का बहिष्करण देशी रणनीति का ही हिस्सा मालूम पड़ता है। विदेशी विद्वानों ने जिस दृष्टि से भारत के साहित्य, संस्कृति और धर्म का अध्ययन किया उसे प्राच्यवादी दृष्टि/औपनिवेशिक दृष्टि के रूप में चिह्नित किया जाता है। हिन्दी साहित्य इतिहास के प्रथम लेखक 'गार्सा-द-तासी' फ्रांस के रहने वाले थे, लेकिन इतिहास-लेखन के पीछे उनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन व्यवस्था को सुगमता का रास्ता तैयार करना था ताकि अँग्रेज भारत के सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास से परिचित हो सकें और उनकी परियोजना सुगमता से चलती रहे।

अधिकांश विदेशी विद्वान् भारत का जब अध्ययन करते थे तो उनके मानस में भारत की छवि हिन्दू शासक वर्ग वाली ही उभरती थी, इसीलिए भारत में अपनी सत्ता की वैधता के लिए वे जहाँ भारतीय शासक वर्ग से संघर्ष की मुद्रा अख्तियार करते थे वहीं दूसरी तरफ अपनी नयी सैद्धांतिक परियोजना के द्वारा धार्मिक मिथकों और इतिहास के शासकवर्गीय पात्रों की नयी व्याख्या करते थे और उसकी साम्यता

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

ईसाई धार्मिक मिथक और राजनीतिक शक्तियों से भी करते थे। अश्लीलता और स्त्री-प्रश्न पर अँग्रेजों के विचार को चारू गुप्ता के उद्धरण से समझा जा सकता है। जिसमें वह लिखती हैं– भारत में अश्लीलता सम्बन्धी ब्रिटिश विचार के उदय की प्रक्रिया बेहद जटिल रही। प्राच्यवादियों का एक तबका एक खास प्रकार की रूमानियत के प्रभाव में था। और प्राचीन भारतीय/हिन्दू सभ्यता के स्वर्ण काल के मिथक में विश्वास रखता था। इस खेमे का मानना था कि मुसलमानों के आने से वह स्वर्ण युग समाप्त हो गया। हिन्दू अतीत की प्रायः चुनिन्दा ढंग से ही प्रशंसा की जाती थी। हिन्दू धर्म के दार्शनिक आकर्षणों को काफी ऊँचा रूतबा दिया जाता था।[10] तासी का इतिहास बहुत विवादास्पद है, क्योंकि पहला ही सवाल उठता है कि एक फ्रांसीसी विद्वान् अँग्रेजों के लिए इतिहास क्यों लिखेगा जबकि उसको खुद फ्रांसीसियों के लिए ही कुछ करना चाहिए था, अगर इस प्रश्न को यह कहकर हल कर लिया जाय कि फ्रांसीसी हार चुके थे, अब उनका शासन स्थापित नहीं हो सकता था। फलतः तासी अँग्रेजों के लिए काम करने लगे। सिर्फ इतना ही नहीं 1839 वाले संस्करण की भूमिका में उन्होंने जो ब्रिटेन की साम्राज्ञी को समर्पण लिखा है उससे अँग्रेजों के प्रति उनकी भक्ति तो प्रदर्शित होती है, भारत के इतिहास की उचित जानकारी का अभाव भी दिखता है, देवि, यह नितांत स्वाभाविक है कि मैं साम्राज्ञी से एक ऐसा ग्रन्थ समाप्ति करने का सम्मान प्राप्त करने की प्रार्थना प्राप्त करूँ जिसका सम्बन्ध भारतवर्ष, आपके राजदण्ड के अन्तर्गत आए हुए इस विस्तृत और सुन्दर देश और जो इतना खुशहाल कभी नहीं था जितना कि वह इंग्लैंड के आश्रित होने पर है, के साहित्य के एक भाग से है। यह तथ्य सर्वमान्य है। और, इसके अतिरिक्त, आधुनिक हिन्दुस्तानी-लेखक इसका प्रमाण देते हैं : जिस ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत न तो लूट का भय है और न देशी सरकारों का अत्याचार है, उसका उनकी रचनाओं में यशगान हुआ है। ... हिन्दुस्तान के प्राचीन शासकों में एक महिला ही थी जिसने अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण ही सम्भवतः अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर ली थी। कृपालु साम्राज्ञी की भाँति गुणों से विभूषित राजकुमारी के मंगल सिंहासनारूढ़ होने का समाचार सुनकर देशवासियों को अपनी प्रिय सुल्ताना रजिया को स्मरण करना पड़ा। वास्तव में, विक्टोरिया रानी में उन्होंने रजिया का तारुण्य और उसके अलभ्य गुण फिर पाए हैं। और केवल यही बात उनका उस देश के साथ सम्बन्ध और भी दृढ़ बना सकती है जिसके लिए उनका अधीन होना ईश्वरेच्छा थी।

मैं हूँ, अत्यधिक आदर सहित, देवी, साम्राज्ञी, अत्यन्त तुच्छ और अत्यन्त आज्ञाकारी दास, पेरिस, 15 अप्रैल, 1839 गार्सा द तासी।[11]

तासी अपने उक्त समर्पण में भारतीयों की अधीनता को इश्वरेच्छा का परिणाम बताते हैं और बहुत चालाकी से इस पूरी स्वीकार्यता का आधार ऐतिहासिक आदत में देखते हैं। गौर करने की बात इस संस्करण में यह है कि तासी इस समर्पण में महारानी विक्टोरिया की तुलना रजिया सुल्ताना से करते हैं। यहाँ तासी अँग्रेजी उपनिवेशकों की मुसलमानी शासन के बारे में धारणा को व्यक्त कर रहे हैं। एक तरफ से ब्रिटिश शासन को पहले की सारी राजव्यवस्थाओं की लूट और अत्याचार से मुक्ति प्रदाता के रूप में चिह्नित करते हैं, वहीं दूसरी ओर नैतिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं के कारण भारत के इतिहास से अपना सम्बन्ध रजिया सुल्ताना के जरिए जोड़ते हैं। संस्थाबद्ध होते हुए इस सांस्कृतिक अभियान को तासी का नजरिया और अधिक व्याख्यायित करता है।[12] तासी के द्वितीय संस्करण की पहली जिल्द (1870) से प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख है कि उनको कुछ महिला लेखिकाओं का भी साहित्य प्राप्त हुआ था। लेकिन तासी के अनुसार भूमिका छप जाने के बाद प्राप्त होने के कारण उसका प्रयोग नहीं किया जा सका। वह लिखते हैं, मुझे खेद है कि मैं एक तज़किरा का प्रयोग नहीं कर सका जो मुझे भूमिका छप जाने के बाद प्राप्त हुआ था और एक महिला लेखिका से सम्बन्धित होने के कारण वह जितना रोचक है उतना ही अद्भुत है। मेरा मतलब मेरठ के रईस हकीम फसीह उद्दीन रंज कृत 'बहारिस्तान-इ-नाज़' का बाग से है, जिन्होंने उसकी एक प्रति मेरे पास भेजने की कृपा की।[13] तासी स्त्रियों को ध्यान में तो रखते हैं लेकिन यह कोई प्रगति की चेतना के कारण नहीं है, बल्कि यह उनकी ऐतिहासिक मजबूरी ही है। उनकी दृष्टि औपनिवेशिक आवश्यकता से संचालित है इसलिए उनके यहाँ यह सवाल नहीं है कि भारत की आम जनता की स्थिति दयनीय है या नहीं। अगर कहीं पर भारतीय जनता की पक्ष और कल्याण की बातें दिखती भी हैं तो उसमें उनका मन्तव्य ब्रिटेन को कल्याणकारी और सुधारक बताने का ही है। उनकी चयनधर्मिता के कई स्तर हैं, जिसमें एक महत्त्वपूर्ण है, मैंने ग्रंथ प्राप्त करने, बहुतों को पढ़ने, उनका विश्लेषण करने, उनमें से अनेक का अनुवाद करने में अत्यधिक समय व्यतीत किया है, किन्तु जो अंश मेरे सामने थे, या जिन्हें मैंने तैयार कर लिया था, उनका बहुत बड़ा भाग मुझे छोड़ देना पड़ा, क्योंकि या तो वे हमारे आचार-विचारों के अत्यधिक विरुद्ध थे, क्योंकि उनमें अनैतिक बातों का उल्लेख है या वे अश्लीलता से दूषित हैं या अन्त में क्योंकि वे ऐसे अलंकारों से भरे हुए हैं, जिन्हें यूरोपीय पाठकों के लिए समझना असम्भव है।[14] एक बात ध्यान देने योग्य है कि फारस और भारत के अत्यन्त प्रसिद्ध मुसलमान रचयिता, जिन्हें सन्त व्यक्ति समझा जाता है, जैसे हाफिज, सादी, सुरत, कमाल आदि लगभग सभी ने अश्लील कविताएँ लिखी हैं, मुसलमानों के बारे में वही कहा जा सकता है जो सन्त पॉल ने मूर्तिपूजकों के बारे में कहा है।[15] मुसलमान रचयिताओं पर अश्लीलता का यह आरोप मुसलमानों के प्रति घृणा का ही परिचायक है, एक तरफ जहाँ राजनीतिक व्यक्तित्व के रूप में वह रजिया की तुलना विक्टोरिया से करते हैं वहीं वे साहित्य के क्षेत्र में मुसलमान रचयिताओं को अश्लील बताते हैं। तासी के साहित्यिक प्रतिमान राजनीतिक एजेण्डे के रूप में आते हैं। भारत विभाजन

की परिकल्पना जैसी चीज भी तासी के इतिहास में मौजूद है। वह लिखते हैं, कबीर ब्राह्मण (धर्मावलम्बी) भारत के लिए लगभग वैसे ही सुधारक थे जिस प्रकार बहुत दिनों बाद मुस्लिम भारत के लिए सैयद अहमद हुए। यह बात कबीर के सन्दर्भ में कही गयी। कबीर को समाज-सुधारक के रूप में महत्त्व तो दिया गया लेकिन अध्यात्म और भक्ति-सम्बन्धी उनकी रचनाओं को ही चुना गया। जबकि समाज-सुधारक होने का श्रेय उन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक आलोचनाओं वाली रचनाओं के चलते ही प्राप्त हुआ। यहाँ निःसन्देह कबीर के समाज सुधारक वाली छवि को पीछे कर उनके आध्यात्मिक पहलू को ही प्रदर्शित किया गया। तासी ने मीरा को भी स्थान दिया है और टाड के हवाले से उनकी संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत की है। ग्रन्थ में चयनधर्मिता की राजनीति जिस पर ही प्रतिमान निर्मित हुए हैं में सिर्फ अधिकांश हिन्दू या हिन्दू प्रतीकों का प्रयोग करने वाले कवियों/रचनाकारों को स्थान दिया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही आयरलैण्ड के निवासी जॉर्ज ए. ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य में काम किया। उन्होंने अपना अधिकांश काम भारतीय भाषाओं को केन्द्र में रखकर किया। 'इनका सारा कार्य हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित है। पर यह सब-का-सब अँग्रेजी में है और अँग्रेजों के लिए लिखा गया है।'[16] स्पष्ट है कि वे ब्रिटिश साम्राज्य की भाषा आवश्यकता को पूरा करने के लिए भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण कर रहे थे। यह उनकी उपनिवेशवादी दृष्टि ही थी। जो उनकी चयन प्रक्रिया में अभिव्यक्त हो जाती है। इनका यह दृष्टिकोण फ्रेंचेस्का के उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है। फ्रेंचेस्का लिखती हैं– इसके बावजूद ऐतिहासिक विमर्श एक साथ और एक ही रूप में नहीं बना। वह भी पश्चिमी औपनिवेशिक तथा प्राच्यवादी और भारतीय ज्ञान की मुठभेड़ से विकसित होती संस्थाओं और सार्वजनिक क्षेत्र की चिन्ताओं द्वारा गढ़ा गया था।...इतिहास का इलाका प्रमुख रूप से प्राच्यवादी इतिहास-लेखन द्वारा चिह्नत-परिभाषित किया गया था।[17]

उनकी आलोचना दृष्टि भारतीय मिथकों को अपने उपनिवेशवादी उद्देश्यों के हित में प्रयोग करती है। इसीलिए उन्होंने इसाई मत के अधिक निकट तुलसी की रचना को सिद्ध कर दिया। उन्होंने सूर के साहित्य को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना तुलसी के साहित्य को। 'ग्रियर्सन' ने 'सूर-सूर, तुलसी शशि' की मान्य परम्परा को अपनी तुली की आलोचनाओं के द्वारा बदल दिया। उन्हें सूर की अपेक्षा तुलसी ईसाई मत के अधिक निकट जान पड़े। अपने पड़ोसियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका निदर्शन उन्हें तुलसी में दिखाई पड़ा। तुलसी द्वारा चित्रित मानस के चरित्रों पर उनकी मर्यादाप्रियता पर, वे मुग्ध हो गये और उनका विश्वास था कि यूरोपीय पाठक इन कारणों से सूर की अपेक्षा तुलसी को अधिक पसन्द करेगा।[18] बहिष्करण की प्रक्रिया प्रतिमानों को जन्म देती है। उनके प्रतिमानों को उनके द्वारा अपनाई गयी बहिष्करण की पद्धति से समझा जा सकता है। मैं न तो अरबी-फारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ, और न तो विदेश से ली गयी साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही। और मैंने इन अन्तिम को, उर्दूवालों को, अपने विचार-क्षेत्र से जान-बूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सा द तासी ने पूर्ण रूप से विचार कर लिया है।[19] जॉर्ज ग्रियर्सन की ही केवल यह दृष्टि हो ऐसा नहीं है। उनका मानना है कि यदि भी यूरोपीय आलोचक इस बाद वाले कवि तुलसी को ही सर्वश्रेष्ठता का मुकुट पहनाना चाहेंगे और आगरा के इस अन्धे कवि को उससे नीचा, यद्यपि फिर भी बहुत ऊँचा स्थान देंगे।[20] आखिर ग्रियर्सन को ही नहीं सम्पूर्ण यूरोपीय आलोचकों को तुलसी अधिक प्रिय और सूर नीचा क्यों हैं। क्या यह उनकी आर्य सम्बन्धी अवधारणा की साम्यता के कारण था। सम्भव हो यही उसका मूल कारण रहा हो। तासी ने तो कबीर के साहित्य के बहाने उन पर बात की है लेकिन ग्रियर्सन तो सूर को ही खारिज करने पर लगे हुए हैं तो वे कबीर के उजले पक्ष को कैसे सामने ला सकते थे। ऐसा करने पर भारतीय शासक वर्ग से साम्यता स्थापित करने का कोई आधार नहीं बन पाता। इन्होंने न तो कबीर की कविताओं की विशेषताओं और प्रवृत्तियों पर बात किया और न ही मीरा की कविताओं की विशेषताओं और प्रवृत्तियों पर। उन्होंने मीरा को एक मात्र महान् कवियित्री, असाधारण नारी, रणछोड़ कृष्ण के भावोच्छ्वासपूर्ण गीत गाने वाली नारी के रूप में चित्रित किया है। वह लिखते हैं, मीरा बाई, उत्तर भारत की एक मात्र महान कवयित्री रन छोड़ कृष्ण के भावोच्छ्वासपूर्ण गीत गा रही है। यह असाधारण नारी, जो सन् 1420 ई. में उपस्थित थी, मेड़ता के राठौर राजा रतिया राना की पुत्री थी और संवत् 1470 (1413 ई.) में चित्तौर के राना मोकल देव के पुत्र, राजा कुम्भ करन (संख्या 21) के साथ विवाहित हुई थी।[21] यहाँ मीरा के बारे में सिर्फ प्रचलित मान्यताओं के आधार पर सूचना भर दी गयी है। उन्हें महान और असाधारण बताए जाने का पर्याप्त प्रमाण उनकी रचनाओं से नहीं दिया गया है। तब क्या मीरा सिर्फ इसलिए महान और असाधारण थीं कि वह एक भावोच्छासपूर्ण गीत गा रहे थी और भक्ति में लीन थी। या इसका कुछ और भी आधार था।

बहुत बाद में हिन्दी साहित्य इतिहास की अपूर्णता का आभास स्त्री-दृष्टि ने किया और विदेशियों द्वारा लिखित इतिहास के मन्तव्यों की पहचान की। सुमन राजे ने स्त्री-दृष्टि से साहित्य इतिहास की पुनःप्रस्तुति किया और इत्यादि के इतिहास की तलाश की। उन्होंने आरम्भिक इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी नजरिये को चिह्नित किया, हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन के प्रारंभिक प्रयास विदेशियों द्वारा किये गये थे। उनका उद्देश्य भारतीय साहित्य और संस्कृति को अपनी तरह से खँगालना था। भारतीय भाषाओं–खासतौर पर हिन्दी के ज्ञात एवं आख्याता होते हुए भी ग्रियर्सन जैसे विद्वान का उपनिवेशवादी दृष्टि कोण नहीं छिपता। उसे छिपाने की कोशिश भी की गयी हो, ऐसा भी नहीं है, अन्यथा वे काल-विभाजन के लिए कम्पनी के अन्दर

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

हिन्दुस्तान (1800-1857), विक्टोरिया की छत्र-छाया में हिन्दुस्तान (1857-1887) जैसे नामों का प्रयोग न करते।[22] प्रतिमान निर्माण में बहिष्करण की पद्धति को रेखांकित करती हुई कहती हैं कि यह काम उदासीनता के कारण नहीं बल्कि विमुखता के कारण हुआ, ज्यों-ज्यों आधे इतिहास का लेखन गति पकड़ता गया, यह धारणा पुख्ता होती गयी कि पुरुष इतिहासकारों ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुआ हो, ऐसी बात नहीं, यह भी नहीं अन्याय विमुख रहकर किया गया है।[23] वह यह भी नहीं दिखाती हैं कि यह काम सिर्फ पुरुषों ने ही किया, लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि अन्याय सिर्फ पुरुषों ने ही किया। महिला लेखकों ने भी उधर नजर नहीं डाली।[24]

उन्नीसवीं शताब्दी की हिन्दी आलोचना के प्रतिमानों के विश्लेषण करने के लिए अब भारतीय हिन्दी आलोचकों की प्रतिमान निर्धारण प्रक्रिया का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। प्रेमघन ने नाटक के प्रतिमान निर्धारित करते हुए लिखा कि– उत्तम नाटक और अभिनय वही कहा जायेगा जिसमें दर्शक खो जायें। प्रेमघन का यह विचार नाटक और अभिनय दोनों की स्वाभाविकता की ओर संकेत करता है। प्रेमघन लिखते हैं– 'सत्कवि का कवित्व' और 'चतुर नट की प्रवीणता' से युक्त मंच पर अभिनीत नाटक ही साहित्य का गौरव होने का अधिकारी है। अभिनय में 'प्रवीणता प्रतिमान है न कि 'सफलता', यह भी नाटकीय दृष्टि को गम्भीर बनाता है।[25] प्रेमघन के नाट्यशास्त्र की चिन्ता को भारतेन्दु ने 1883 में नाटक अथवा दृश्य काव्य लिखकर पूरा किया।... अपने इस निबन्ध में भारतेन्दु ने आधुनिक नाटक एवं रंगमंच के लिए प्राचीन की अपेक्षा नयी दृष्टि को प्रमुखता दी है। इसमें उन्होंने प्राचीन नाट्यशास्त्र के उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण किया है जो उनके समय के लिए उपयोगी थे। भारतेन्दु ने लिखा कि प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार की रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोद कर गये। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति मत अवलम्बन करके नाटकादि दृश्य काव्य लिखना– युक्तिसंगत-बोध नहीं होता। जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशी रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है।[26] यह सही है कि भारतेन्दु युग में बहुत दूर तक आलोचना सम्बन्धी मान-मूल्य का निर्धारण पुस्तक समीक्षा के रूप में ही मिलता है।[27] भारतेन्दु काल जागरण का काल है जब साहित्य की विषयवस्तु लौकिक होती जा रही है, इसमें लौकिकता पर जहाँ जोर है वहीं साहित्य 'प्रकरण' जैसी साहित्य विधा के लिए वह शास्त्रीयता से मुक्त होते नहीं दिखाई देते हैं। जब 'प्रकरण' पर चर्चा करते हैं तो नायक के लिए जो शर्त रखते हैं वह इस प्रकार है, यह और बात में नाटक के तुल्य होना चाहिए, किन्तु इसका उपाख्यान लौकिक हो। नायक कोई मन्त्री, धनी वा ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मन्त्री कन्या, किसी घर में आश्रित भाव से रहने वाली, वा वेश्या हो।[28] इसमें भारतेन्दु के अनुसार अभी भी व्यापक जनसमुदाय के साधारण लोग नायक या नायिका नहीं बन सकते थे। यह प्रतिमान उन्होंने संस्कृत साहित्य से ग्रहण किया है जहाँ नायक किसी खास समुदाय से ही हो सकता था। क्योंकि उदात्तता की जिस कोटि की माँग थी वह वहीं से पूरी होती थी। इसके बाद भी भारतेन्दु को पूरी तरह शास्त्रीय प्रतिमानों वाले आलोचक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। उनका समय आधुनिकता और परंपरा के द्वन्द्व का समय था जिसकी अभिव्यक्ति उनकी आलोचना दृष्टि में भी दिखती है। भारतेन्दु में गतिशीलता और प्रयोग की विविधता है। शास्त्रीयता का बन्ध भी टूटता हुआ दिखाई देता है। वह ज्ञान निर्माण और सृजन को सामाजिक अतःक्रिया के माध्यम से अधिक मानवीय बनाने का प्रयास लगातार करते हैं। लिखते हैं– मानव प्रकृति की आलोचना करनी हो तो नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे। तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने। तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे, वरंच समय में अवश्य रक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृक्ति नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोप कथन करे। यह न करने से मानव प्रकृति समायोजित नहीं होती।[29] आलोचकों के लिए सम्पूर्ण सामाजिक प्रकृति का अध्ययन जरूरी था। वहाँ साहित्य आलोचना मानव प्रकृति की आलोचना थी। यह महत्त्वपूर्ण प्रतिमान था।

रचना की कसौटी ही आलोचना की भी कसौटी बन जाती है। रमेश कुमार कहते हैं, भारतेन्दु युग की नाट्य-समीक्षा में एक प्रमुख तत्त्व यह भी उभरकर सामने आता है कि मंच पर अभिनय के लिए नाटक उपयुक्त है कि नहीं? तात्पर्य यह है कि अभिनेयता भारतेन्दु युग की नाट्य रचना की प्रमुख शर्त है। अभिनय के द्वारा नाटक को ये लोग सीधे लोक से जोड़कर अपना सन्देश संप्रेषित करना चाहते थे। इस दृष्टि से देखें तो भारतेन्दु मण्डल के सभी रचनाकार शास्त्र की अपेक्षा लोक की कसौटी पर कसकर सभी रचनाओं की समीक्षा करते हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ शास्त्र और लोक का समन्वय तो मिलता है, किन्तु लोक शास्त्र पर हावी रहता है।[30] भारतेन्दु की साहित्य-दृष्टि में युग-चेतना और जनसामान्य ही निकष हैं। लोक की कसौटी पर खरा उतरने वाला साहित्य ही उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। नाटक भी उनके लेखे सफल वही है जिसका अभिनय किया जाय और जिसमें कुछ सन्देश हो।[31] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 19वीं शताब्दी में हिन्दी आलोचना के प्रतिमानों में एक तरफ जहाँ बहिष्करण की प्रक्रिया चल रही थी वहीं आलोचना में जनसामान्य के सवालों की अनिवार्यता ने प्रतिमानों के स्वरूप में भी बदलाव किया, लेकिन उसमें

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

दलित और स्त्री के प्रति सचेतनता नहीं दिखाई देती है।

सन्दर्भ

1. Keywords in language and literacy Ronald Canter Routledge 11 New Felter Lane London EC4PEE 1995, Page. 17.
2. Ref. From the Oxford companion to classical literature, second edition, M.C. Howatson, 1989, OUP, page. 114, the Bedford Glossary of critical and literary terms, Ross Murtin and Supriya M. Roy, Bedfordèk St. Martin's Boston, New York, second edition, 2003, Page- 46, A Dictionary of literary terms and literary theory, North edition, J.A. Cuddon, Maya Blackwell, DOABA HOUSE, New Delhi, page. 108.
3. Guide to Literary terms, Jaik Linch, OUP, P. 98
4. तेज सिंह, अपेक्षा—जुलाई-दिसम्बर, 2010, पृ. 4
5. विनोद शाही— हिन्दी आलोचना और साहित्य के नये प्रतिमान, कथादेश, सितम्बर 2012, पृ. 36.
6. वही, पृ. 36
7. मृत्युंजय त्रिपाठी— अप्रकाशित पी.एच.डी. शोध ग्रन्थ— हिन्दी विभाग, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, पृ. 11-12.
8. नन्दकिशोर आचार्य— इतिहास के सवाल, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पुनर्मुद्रण 2012, पृ. 9
9. शिशिर कर्मेन्दु- भारातीय नवजागरण और समकालीन सन्दर्भ, नयी किताब, दिल्ली संस्करण 2013, पृ. 30.
10. चारू गुप्ता- स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-2012, पृ. 40.
11. हिन्दुई साहित्य का इतिहास- गार्सा द तासी- (अनु.) लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, पृ. 1.
12. मृत्युंजय त्रिपाठी- हिन्दी आलोचना में कैनन निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन, प्रकाशित शोध ग्रन्थ, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, पृ. 44.
13. गार्सा द तासी - हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनु. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, पृ. 50, 51.
14. वही, पृ. 17
15. वही, पृ. 18
16. जॉर्ज ए. ग्रियर्सन, हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, (अनु., किशोरी लाल गुप्त) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी,-2, द्वितीय संस्करण, 1961, पृ. 21
17. फ्रेंचेस्का अर्सेनी- हिन्दी का लोकवृत्त अनुवाद निलाभ, वाणी प्रकाशन, 2011, पृ. 223
18. वही, पृ. 23
19. वही, पृ. 53
20. वही, पृ. 65
21. वही, पृ. 87
22. सुमन राजे-हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, तीसरा संस्करण : 2006, पृ. 7
23. वही, पृ. 11
24. वही, पृ. 11
25. रमेश कुमार- नवजागरण और हिन्दी आलोचना, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ. 105.
26. वही, पृ. 106
27. नवजागरण और हिन्दी आलोचना—रमेश कुमार, नेहा प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. 39
28. भारतेन्दु ग्रन्थावली नाटक अथवा दृश्य-काव्य, निबन्ध, पृ. 750
29. वही. पृ. 517
30. रमेश कुमार— नवजागरण और हिन्दी आलोचना, नेहा प्रकाशन दिल्ली, पृ. 39
31. रमेश कुमार— नवजागरण और हिन्दी आलोचना, नेहा प्रकाशन, दिल्ली-2006, पृ. 79

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

बहुजन चेतना के नायक चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु

कँवल भारती

हिन्दी पट्टी में जिस समय स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' (1879-1933) दलितों में 'आदि हिन्दू' आन्दोलन चला रहे थे, उस समय लखनऊ के एक पिछड़ी जाति के लेखक चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु स्वामी जी से प्रभावित होकर उनके आन्दोलन से जुड़ गये थे। वह आदि हिन्दू की कई सभाओं में उनके साथ थे। स्वामी जी की 1933 में जो अन्तिम सभा ग्वालियर में हुई थी, उसमें भी वह उनके साथ थे। वहाँ उन्होंने सामन्तों, जमींदारों और ब्राह्मणों के अत्याचारों से पीड़ित अछूत जातियों के लोगों के इण्टरव्यू लेकर कई सौ पृष्ठों का दस्तावेज तैयार किया था। पीड़ित गरीबों की आपबीती सुनकर जिज्ञासु जी की आँखें भर आयी थीं। वह दस्तावेज यदि छप गया होता, तो हिन्दी दलित साहित्य में दलित आत्मकथाओं की वह पहली पुस्तक होती। लेकिन जिज्ञासु जी उसे छपवा नहीं पाये, वह और बहुत-सी अन्य कापियाँ, जिसमें स्वामी जी की भी कुछ मूल कृतियाँ थीं, खो गयी थीं। जिज्ञासु जी ने स्वामी जी पर लिखी अपनी किताब में इस सत्य को दुःख के साथ लिखा है।

जिज्ञासु जी ने आदि हिन्दू आन्दोलन के साथ रहकर, जगह-जगह घूमकर और पीड़ित-जनों से मिलकर सामन्तवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था की जो नंगी तस्वीर देखी थी, उसने उनमें जबरदस्त परिवर्तन किया था। वहीं से उनमें वर्ण-व्यवस्था और जातिभेद के खिलाफ समतामूलक समाज के निर्माण के संकल्प ने जन्म लिया। आदि हिन्दू आन्दोलन का प्रभाव इतना जबरदस्त था कि उसने पिछड़ी जातियों को भी उद्वेलित कर दिया था। स्वयं जिज्ञासु जी पिछड़ी जाति (कलवार) से थे। पिछडी जातियों के कुछ और नेता भी इस आन्दोलन से जुड़ गये थे, जिनमें शिवदयाल सिंह चौरसिया, रामचरन निषाद और चौधरी श्यामलाल धोबी उस समय के प्रमुख व्यक्ति थे। रामचरन निषाद बैरिस्टर थे और उन्हें 'राय साहेब' की उपाधि मिली हुई थी। पिछड़ा वर्ग आन्दोलन के वह सबसे बड़े आर्थिक सम्बल थे। आदि हिन्दू आन्दोलन के भी वह एक बड़े सहयोगी थे। पर उन्हें लम्बा जीवन नहीं मिला था, उनकी मृत्यु 50 वर्ष

की आयु में 1938 में ही हो गयी थी। लेकिन शिवदयाल सिंह चौरसिया को लम्बा जीवन मिला था। लगभग 90 से भी अधिक वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु सम्भवतः 1994 में हुई थी। वह आर्थिक रूप से सम्पन्न व्यक्ति थे और पिछड़े वर्गों के लिए बने प्रथम राष्ट्रीय आयोग—काका कालेलकर आयोग— के सदस्य भी थे। जिज्ञासु जी का व्यक्तित्व इन सबके बीच एक प्रखर चिन्तक और लेखक का था।

डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में उत्तर भारत का पहला डिप्रेस्ड क्लासेज फेडरेशन 1928 में नागपुर में बना था। इसमें उत्तर प्रदेश से राय साहेब रामचरन निषाद को अध्यक्ष, शिवदयाल चौरसिया को महामन्त्री और चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु को संयोजक बनाया गया था, जबकि संरक्षक बोधानन्द को बनाया गया था। बोधानन्द बंगाली ब्राह्मण थे। पर वह ब्राह्मणवाद और वर्णव्यवस्था के विरोधी थे, दलित वर्गों के लिए काम करते थे और बाद में बुद्ध की शरण में जाकर भदन्त बोधानन्द महास्थविर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। नागपुर में बोधानन्द जी का ओजस्वी भाषण सुनकर डॉ. अम्बेडकर बहुत प्रभावित हुए थे। बोधानन्द जी ने लखनऊ में रिसालदार पार्क में एक बुद्ध विहार बनवाया था और उसमें एक पुस्तकालय स्थापित किया था, जो आज भी मौजूद है। डॉ. अम्बेडकर जब भी लखनऊ जाते, रिसालदार पार्क बुद्ध विहार में बोधानन्द जी से मिलने जरूर जाते थे। कहा जाता है कि उन्हें बुद्ध की शरण में जाने की मुख्य प्रेरणा भी बोधानन्द जी से ही मिली थी। लेकिन वह डॉ. अम्बेडकर को 1956 में बौद्धधर्म अपनाते हुए नहीं देख सके थे, क्योंकि उनका परिनिर्वाण 1952 में ही कैंसर से हो गया था। 1930 में बोधानन्द जी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मूल भारतवासी और आर्य' प्रकाशित हुआ था, जो भारत की मूलनिवासी जातियों की सभ्यता और संस्कृति पर उस समय का पहला ग्रन्थ था। पर, हिन्दी साहित्य में इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं हुआ। सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में रजनीकांत शास्त्री ने जरूर अपनी पुस्तक 'हिन्दू जाति का उत्थान और पतन' में इसका उल्लेख किया है। बोधानन्द जी का बुद्ध विहार दलित-पिछड़े वर्गो की गतिविधियों का लखनऊ में एक प्रमुख केन्द्र था और वह बहुजन चेतना के उद्‌गम स्रोत थे। उस समय के लगभग सभी प्रमुख नेता— रामचरन निषाद, शिवदयाल चौरसिया, गौरीशंकर, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु और छेदीलाल साथी (जो 1975-77 तक उत्तर प्रदेश सरकार के 'सर्वाधिक पिछड़ा वर्ग आयोग' के अध्यक्ष थे) बोधानन्द जी की ही देन थे। जिज्ञासु जी उन्हें अपना गुरुदेव मानते थे। बोधानन्द जी स्वयं लिखने में असमर्थ थे, क्योंकि चोट लगने से उनका अँगूठा खराब हो गया था। अतः वह बोलकर जिज्ञासु जी से ही लिखवाते थे। उनके 'मूल भारतवासी और आर्य' ग्रन्थ को भी जिज्ञासु जी ने ही लिखा था। इसी ग्रन्थ से प्रेरित होकर 1933 में जिज्ञासु जी ने 'भारत के आदि निवासी' नाम से एक वृहद् ग्रन्थ लिखा था, जो लगभग एक हजार पृष्ठों का था। पर, इस ग्रन्थ के केवल दो खण्ड ही छप सके थे— पहला खण्ड 1937 में 'भारत

के आदि निवासियों की सभ्यता' नाम से और दूसरा खण्ड 1938 में 'सृष्टि और मानव समाज का विकास' नाम से, शेष खण्ड छप नहीं सके थे। पहले खण्ड का समर्पण उन्होंने अपने गुरुदेव—भदन्त बोधानन्द महास्थविर को किया था।

जिज्ञासु जी ने सबसे पहले 'हिन्दू समाज सुधार' संस्था बनायी और उसके माध्यम से वर्ण-व्यवस्था, जातिभेद, छुआछूत और ब्राह्मणवाद के खिलाफ जनजागरण किया। इसी संस्था से उन्होंने अपनी कई पुस्तकें प्रकाशित कीं, जिनमें 'ईश्वर और उनके गुड्डे', 'रावण और उसकी लंका' एवं 'शिव तत्त्व प्रकाश' प्रमुख हैं।

उनका सबसे बड़ा काम यह था कि उन्होंने दलितों और पिछड़ों को एक सामाजिक मंच पर लाने के लिए 'बहुजन' की अवधारणा दी। उस समय 'दलित' शब्द भी प्रयोग में नहीं था। 'अछूत' और 'पिछड़ा' ये दो शब्द ही प्रचलन में थे। अछूतों के लिए 'हरिजन' शब्द भी चलता था। जिज्ञासु जी ने अछूतानन्द जी और बोधानन्द जी के विचारों के प्रकाश में यह जान लिया था कि अछूतों और पिछड़ी जातियों का शत्रु एक ही है और वह 'ब्राह्मणवाद' है। इसी ब्राह्मणवाद ने भारत के करोड़ों मूलनिवासी मनुष्यों को प्रगति और विकास के अधिकारों से वंचित करके गुलाम बनाकर रखा हुआ है। इसलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ाई भी अछूत और पिछड़ी जातियों को मिलकर लड़नी होगी। बुद्ध की शिक्षा उन्हें अपने गुरुदेव भदन्त बोधानन्द से मिली थी, जहाँ वह बुद्ध के 'बहुजन सुखाय' और 'बहुजन हिताय' की अवधारणा से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। बहुजन की अवधारणा 'शोषक और शोषित' की वैचारिकी पर आधारित समाजवाद से भी मेल खाती थी, जिसमें उनका विश्वास था। अतः दलित-पिछड़े वर्गों के बहुसंख्यक लोगों के हित में उन्होंने 1960 में 'बहुजन कल्याण प्रकाशन' की स्थापना की। शीघ्र ही उन्हें अपने प्रेस की जरूरत भी महसूस हुई, क्योंकि लखनऊ के हिन्दू प्रेस ब्राह्मणवाद के खिलाफ उनकी पुस्तकें छापने में रुचि नहीं लेते थे। अतः कुछ वर्ष बाद उन्होंने अपनी प्रेस भी लगा ली, और नाम रखा 'समाज सेवा प्रेस'।

जिज्ञासु जी ने लगभग 40 साल तक हिन्दी क्षेत्र में वर्णव्यवस्था, जातिभेद और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध जनजागरण किया। सौ से भी अधिक पुस्तकों के वे लेखक थे। समाज के सबसे निचले तबके ने उन्हीं की वजह से पहली दफा जाना कि उनका भी कोई इतिहास है और वे इस देश के मूल निवासी हैं। जिज्ञासु जी ने ही डॉ. अम्बेडकर, महात्मा फुले, रामास्वामी नायकर और रैदास-कबीर के क्रान्तिकारी विचारों से जनता को परिचित कराया। जिस तरह उन्होंने कबीर और रैदास को रामानन्द के चोले और वैष्णवी भक्ति के रंग से बाहर निकाला, वह दलितों के लिए बिल्कुल नया ज्ञान था। उनकी 'बाबा साहेब का जीवन संघर्ष' वह पुस्तक थी, जिसे पढ़कर मेरी पीढ़ी के लोगों ने पहली बार जाना था कि कोई डॉ. अम्बेडकर थे, जिन्होंने अछूतों को गुलामी का एहसास कराया था और उनकी मुक्ति की लड़ाई लड़ी थी। उनका

प्रकाशन हिन्दी का पहला संस्थान था, जिसने बहुजन साहित्य के प्रकाशन को ही अपना लक्ष्य बनाया था। उन्होंने डॉ. अम्बेडकर की जीवनी के साथ-साथ उनकी कई अँग्रेजी पुस्तकों को भी ढूँढ़-ढूँढ़कर एक्सपर्ट विद्वानों से उनके अनुवाद कराकर प्रकाशित कराया था, जिनमें 'शूद्रों की खोज', 'अछूत कौन और कैसे', 'जातिभेद का उच्छेद', 'नागपुर का भाषण', 'रानाडे, गाँधी और जिन्ना', 'भारत में जातिवाद', 'काँग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया', 'अछूतों की विमुक्ति और गाँधीजी' तथा 'भारत का विभाजन अथवा पाकिस्तान' प्रमुख हैं। उन्होंने 'प्राबलम आफ रुपी' का भी हिन्दी अनुवाद करा लिया था, पर उनकी आकस्मिक मृत्यु के कारण उसका प्रकाशन नहीं हो सका था। आज डॉ. अम्बेडकर का सम्पूर्ण वाङमय भारत सरकार प्रकाशित कर रही है, पर हिन्दी में यह काम जिज्ञासु जी साठ के दषक में ही कर चुके थे। यही नहीं, जिन पेरियर रामास्वामी नायकर को साठ के दशक में हिन्दी वाले, विशेषकर बहुजन समाज के लोग जानते तक न थे, उन्हें जनवाने का काम भी जिज्ञासु जी ने ही किया था। 1968 में पेरियर ई. वी. रामास्वामी नायकर अल्पसंख्यक सम्मेलन में भाग लेने लखनऊ गये थे। उस समय उनकी चार पुस्तकें बहुत चर्चित थीं, जिनमें एक थी 'ए ट्र रीडिंग आफ रामायना' और अन्य तीन पुस्तकों में उनकी जीवनी, फिलोसोफी और सामाजिक क्रान्ति की किताबें थीं। इनमें 'ए ट्रू रीडिंग रामायना' का हिन्दी अनुवाद 'सच्ची रामायण' नाम से ललई सिंह यादव ने प्रकाशित किया था। शेष तीनों पुस्तकों को जिज्ञासु जी ने अनुवाद कराकर एक ही जिल्द में 'पेरियर ई. वी. रामास्वामी नायकर' नाम से 1970 में प्रकाशित किया था। उस समय पेरियर का द्रविड़स्तान आन्दोलन चल रहा था। अतः यह पुस्तक हाथों-हाथ बिकी। इसमें ईश्वर, धर्म और आत्मा के ब्राह्मणवादी जाल द्वारा बहुजन समाज के शोषण का मार्मिक वर्णन पढ़कर बहुजन समाज के लोग पेरियर के मुरीद हो गये थे।

उत्तर प्रदेश में पिछड़ा वर्ग आन्दोलन के प्रवर्तक बोधानन्द जी थे, इस बात को उ. प्र. सरकार के 'सर्वाधिक पिछड़ा वर्ग आयोग' (1975) के अध्यक्ष रहे डॉ. छेदीलाल साथी ने भी अपनी पुस्तक 'भारत की आम जनता शोषण-मुक्त व अधिकार-युक्त कैसे हो' में स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि 'बोधानन्द (1874-1952) शोषण-मुक्त अधिकार-युक्त समाज बनाने के जनक और क्रान्ति के ज्वालामुखी' थे। (पृष्ठ 85) यह विडम्बना है कि जिस तरह भारत के अछूतों को डॉ. आम्बेडकर मिले, जो उनकी समस्या को लन्दन तक ले गये थे, उस तरह का कोई राष्ट्रीय नेता पिछड़े वर्ग की समस्या को उठाने वाला नहीं था। पूना पैक्ट के बाद जब गाँधी जी लखनऊ आये तो जिज्ञासु जी और 'बैकवर्ड क्लासेज लीग' के कुछ नेता बोधानन्द जी के नेतृत्व में उनसे मिले और उन्हें एक मेमोरैंडम देकर पिछड़े वर्गों के अधिकारों की माँग की। जिज्ञासु जी ने एक जगह लिखा है कि गाँधी जी माँगों को पढ़कर अवाक रह गये। उन्होंने समझाया कि इससे आजादी की लड़ाई पर असर पड़ेगा, आप लोग

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

फिलहाल आजादी के संग्राम में हमारा साथ दें। आजादी मिलने के बाद हमारा पहला काम दबी-पिछड़ी जातियों को समान सामाजिक स्तर पर लाना होगा। गाँधी जी के आश्वासन पर 'बैकवर्ड क्लासेज लीग' के नेता और कार्यकर्ता काँग्रेस के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। गाँधी जी यही चाहते थे। दलित उनके चंगुल में फँसे नहीं थे, पर पिछड़े वर्ग के लोग फँस गये थे। अतः पिछड़ा आन्दोलन किसी लक्ष्य पर पहुँचने से पहले ही बिखर गया। आजादी मिलने के बाद पिछड़े वर्ग के जो जुझारु नेता थे, उन्हें काँग्रेस ने लोलीपाप देकर खरीद लिया। इनमें शिवदयाल चौरसिया को काका कालेलकर आयोग का अध्यक्ष और राज्य सभा का सदस्य बना दिया गया। और भी कुछ लोगों को राज्य सभा और विधान परिषद में भेजा गया। लेकिन जिज्ञासु जी सत्ता के इस माया जाल में बिल्कुल नहीं फँसे। काँग्रेस और गाँधी ने पिछड़ा वर्ग के नेताओं से जो वादा किया था, उसे वे भूल गये। काका कालेलकर आयोग की शिफारिशों को भी काँग्रेस सरकार ने लागू नहीं किया। इस पूरे प्रकरण पर जिज्ञासु जी ने 1957 में 'पिछड़ा वर्ग कमीशन-रिर्पोट और पिछड़े वर्ग के वैधानिक अधिकारों का सरकार द्वारा हनन तथा बाबा साहेब अम्बेडकर का कर्तव्यादेश' शीर्षक से एक अत्यन्त विचारोत्तेजक पुस्तक लिखी, जिसकी भूमिका उस समय के प्रसिद्ध बहुजन कवि और नेता श्री बदलूराम 'रसिक' ने लिखी थी। इस पुस्तक ने दलित-पिछड़ी जातियों को एक सामाजिक मंच पर लाने के लिये उन्हें डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन से जोड़ने में बड़ी भूमिका निभाई।

चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु एक ऐसे समाज-तत्त्व-वेत्ता थे, जिन्हें छठे और सातवें दशक में हिन्दी चिन्तन में नये समाज-विमर्श और भारतीय मौलिक समाजवाद को स्थापित करने का श्रेय जाता है। यह हिन्दी साहित्य में नयी धारा थी। भले ही ब्राह्मणों ने उसे समानान्तर धारा के रूप में भी स्वीकार नहीं किया, पर वे निस्सन्देह आधुनिक हिन्दी दलित-साहित्य के पितामह थे।

बिहार के प्रेमचंद अनूपलाल मंडल

अरुण नारायण

अनूपलाल मंडल अपने समय के लोकप्रिय लेखकों में थे। इतने कि उन्हें बिहार का प्रेमचंद कहा गया। पता नहीं उनके साथ प्रेमचंद का विशेषण क्यों जुड़ा। सम्भव है इसकी वजह नियमित रूप से उनके उपन्यासों का प्रकाशन रहा हो। एकसाम्यता यह भी रही हो कि प्रेमचंद की तरह ही उनके लेखन में आदर्श और यथार्थ का समन्वित प्रयोग दिखलायी पड़ता है। अनूपलाल मंडल का साहित्यिक लेखन 1926 से आरम्भ हुआ, हालाँकि उनका पहला उपन्यास 'निर्वासिता' 1929 में छपा। इसके पहले 1927 में उनके संपादन में 'रहिमन सुधा' नामक पहली पुस्तक पटना की 'सरस्वती पुस्तकमाला' से प्रकाशित हुई। अनूप ने जिस वक्त लेखन आरम्भ किया उस दौर को देखें तो 1929 में इलाचंद्र जोशी और जैनेंद्र का भी पहला उपन्यास छपा। अनूप के समय में ही साहित्य में आये ये दोनों ही लेखक अखिल भारतीय स्तर पर चर्चित हुए जबकि अनुपलाल मंडल उस कामयाबी के विपरीत गुमनामी के अंधेरे में गुम होते गये। उन्होंने कुल 18 उपन्यास लिखे। उनके 'मीमांसा' उपन्यास पर 1940 में 'बहूरानी' फिल्म बनी। इस फिल्म की प्रधान नायिका थीं—अनुराधा और किशोर साहू इसके निर्देशक थे। फिल्म के संगीत निर्देशक रफीक गजनबी थे। फिल्म में महमूद, जुब्बारकर, मिस राजे और सविता देवी जैसे लोकप्रिय कलाकरों ने अभिनय किया था। यह किसी लेखक के लिए बड़ी बात थी कि उसकी कृति को रूपहले पर्दे पर फिल्माया गया। आज भी जिन साहित्यिक कृतियों को यह सुयोग मिलता है वह कुछ अलग ही शोहरत पा जाती है। लेकिन अनूप जी की इस कृति के बारे में शायद ही किसी ने कभी चर्चा की हो। अनूपलाल मंडल ने अपनी अप्रकाशित आत्मकथा में लिखा है कि इस फिल्म के प्रीमियर शो में उन्हें मुम्बई बुलाया गया था। उस शो में 'मुल्कराज आनन्द, मोहम्मद अब्बास और अभिनेताओं में अशोक कुमार, देवानन्द और दिलीप कुमार से मेरा परिचय कराया गया।' फिर भी अनूप को वह ख्याति नहीं मिली जिसके वे हकदार थे। बिहार सरकार का राजभाषा विभाग हर महीने अपने

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

प्रान्त और देश के लेखकों की पुण्य तिथियाँ मनाता है। उसके कैलेंडर पर नजर डालें तो अनूपलाल मंडल आपको कहीं नहीं दिखेंगे। जबकि उक्त विभाग रामलोचन सरण सरीखे प्रकाशक तक की पुण्यतिथि मनाती है। यह प्रसंग इस बात की तस्दीक करता है कि अनूप की उपेक्षा उनकी जातीय स्थिति के कारण भी हुई है। वे पिछड़े वर्ग के जिस कैवर्त जाति से आते थे इस बात को लेकर बिहार का बौद्धिक वर्ग उन्हें पसन्द नहीं करता था इसीलिए उनकी उपेक्षा की सोची-समझी रणनीति उनके मूल्यांकन में आड़े आती रही है। इन पंक्तियों के लेखक ने तीन-चार साल पहले अनूपलाल मंडल के गाँव की यात्रा की, यह सोचकर कि उनकी अप्रकाशित रचनाएँ इकट्ठा छपवाया जाये। लेकिन मुश्किल से उनकी एक अप्रकाशित आत्मकथा 'मंजिल और कितनी दूर' नजर आयी। बहुत कोशिशों के फलस्वरूप छोटे लाल बहरदार ने उनकी आत्मकथा और पाँच-छह उपन्यास फोटो स्टेट करने के लिए उपलब्ध करवाये। हमने सात-आठ दिन बहुत हाथ पैर मारे। साल-भर बाद पुनः उनकी पुरानी कृतियों की खोज में निकला। उसी समय उत्तम केसरी जी ने अनूपलाल मंडल के भानजे से मुलाकात करवायी जो पूर्णिया में ही सराकरी मुलाजिम थे। सर्दियों की वह दोपहर मैं बड़ी उम्मीद में गया कि उनके पास तो उनका समग्र मिल ही जायेगा। उनसे बातें होने लगीं तो कहा भी कि मामा अपनी हर किताब की एक-एक प्रतियाँ उनके यहाँ जरूर रखवाते थे। लेकिन आज की तिथि में उनके पास अनूपलाल मंडल की कोई कृति नहीं थी। इसका उन्हें कोई अफसोस भी नहीं। बल्कि स्वयं यह भी उन्होंने कहा कि अगर अनूप सवर्ण बिरादरी से होते तो आज उनके नाम की धूम होती। हमारी इच्छा हुई कि उनसे पूछूँ कि पिछड़ा होने की वजह से ही क्या आपने भी उनकी कृतियों की बरबादी की? लेकिन मन मसोसकर रह गया। कर ही क्या सकता था।

अनूपलाल मंडल मूलतः उपन्यासकार ही थे। हालाँकि उनकी उपलब्धियों की सूची में जीवनी-लेखन, संपादन, नीति कथ- लेखन और अनुवाद भी शामिल है। उन्होंने रघुवंश प्रसाद सिंह, मुसोलिनी, महर्षि रमण और अरविंद की जीवनी लिखी। खुद बीमारी के दिनों में महर्षि अरविंद के आश्रम भी गये जिसका सन्दर्भ उनकी आत्मकथा में आया है। 'कैवर्त कौमुदी' नामक जातीय पत्रिका का संपादन भी उन्होंने किया। नलिन विलोचन शर्मा ने अपने मनपसन्द जो दस उपन्यास गिनाये हैं उनमें अनूप जी के भी उपन्यास थे। अनूप के उपन्यासों के कथानक पारिवारिक-सामाजिक विषयों के इर्द-गिर्द विकसित होते रहे। जिसकी अपनी सीमाएँ रही हैं। बहरहाल, अगर उन्हें प्रेमचंद से तुलना योग्य समझा गया तो इसकी वजह शायद यह रही हो कि उन्होंने तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन और समय-समाज के प्रति वही एप्रोच रखा जो प्रेमचंद का था अर्थात बहुसंख्यक आबादी का हित-चिन्तन और फिरंगी शासन की आलोचना। अनूप के उपन्यासों के ज्यादातर पात्र जमींदार पृष्ठभूमि से आते हैं। उनके ज्यादातर उपन्यासों का ताना-बाना इन्हीं चरित्रों के इर्द-गिर्द मंडराता है। तत्कालीन आन्दोलन के प्रति इन जमींदारों में सहानुभूति है। राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित हो ये पात्र खुद भी जनहित के लिए अपने को तैयार करते हैं। सवाल यह है कि आखिर लेखक ने जमींदार वर्ग के इस सकारात्मक पक्ष को ही क्यों चुना? उस समय के समाज में इन जमींदारों का जो हिंसक खौफनाक चेहरा था वह भी तो आना चाहिए था। इस मोर्चे पर वे मार खाते हैं, यह उनकी एक बड़ी सीमा है। सहजता, मार्मिकता और करुणा उनके उपन्यासों की खासियत है। स्त्रियों के मनोविज्ञान को उन्होंने अपनी कृतियों में सूक्ष्मता से पकड़ा है। हालाँकि यहाँ वे इस मायने में चूकते हैं कि स्त्रियों के प्रति तत्कालीन समाज की जो संकीर्णताएँ थीं उसे फोकस करने की बजाय वे प्रेम में छली गयी स्त्री की पीड़ा का रोना ज्यादा रोते हैं। अपने एक उपन्यास में उन्होंने वैधव्य का जीवन जी रही एक निःसन्तान स्त्री का बड़ा जर्बदस्त चित्रण किया है। एक अनाथ बच्चे को उसके ही परिवार के लोग कोड़े से पिटते हैं वह स्त्री उसे अपनी सगी सन्तान मानकर जिस आदर्श की मिशाल पेश करती है उस भाव को पूरे उपन्यास में लेखक ने गजब दक्षता के साथ साधा है। अपने उपन्यास 'तूफान और तिनके' में अनूप ने क्रांतिकारी नक्षत्र मालाकार के महत्त्व को निरूपित किया है। अँग्रेजी, बाँग्ला, उर्दू और संस्कृत-इन तीनों भाषा में उनकी दखल थी। अँग्रेजी और बाँग्ला से तो बाजाब्ते उन्होंने किताबें अनूदित कीं। 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह में अनूपलाल लक्ष्मीनाराण सुधांशु के साथ जेल गये। वहाँ से लौटे सिर दर्द की ऐसी व्याधि लेकर, जो बहुत दिनों तक लाइलाज बनी जर्बदस्त परेशानी का शबब बनी। अनूपलाल की प्रेमचंद से मुलाकात का एक प्रसंग उनकी आत्मकथा में आया है। संयोग से प्रेमचंद के पड़ोस में ही ठहरे हैं—

'...व्यवस्थापक ने पहले दिन ही मुझे परिचय करा दिया उपन्यास सम्राट प्रेमचंद से—युगांतर के संचालक के रूप में। भला मैं उन सम्राट के निकट एक जुगनू-सा छोटा उपन्यासकार अपने को एक लेखक के रूप में कैसे अपना परिचय अपने-आप दे सकता था। जो हो, प्रेमचंद जी को बड़ी तन्मयता के साथ जब-जब मैं लिखते देखता, मुझे लगता, जैसे बाहरी दुनिया से अलग-थलग होकर बैठे हों, जहाँ उनकी निगाह किसी अन्दरूनी दुनिया पर गड़ी हो, जिसे कागज पर उतारा जा रहा हो। प्रेमचंद जी का 'गोदान' प्रकाशित हो चुका था, उसकी जुजबन्दी सिलाई में बाइंडर लगे हुए थे, जिल्दें ज्यों-ज्यों तैयार होती जातीं, उन्हें बंडलों में बँधवाकर बाहर भिजवाया भी जाता। इसलिए 'दुमदल' मुद्रित हो जाने पर भी जुजबन्दी सिलाई करवाने में विलम्ब देखकर सो-एक प्रतियाँ साथ लेकर मैं यह कहकर चला आया कि शेष प्रतियाँ रेलवे पार्सल से भेज दी जायें।... सरस्वती प्रेस में कुल बारह दिन मुझे रहने को मिले थे, पर मैंने देखा कि जैसे वह प्रेमचंद जी का निवास साहित्यकारों को मिलन मन्दिर हो। वहीं मुझे पहले-पहल निराला जी के दर्शन मिले थे, शायद उनकी कोई कविता

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

संकलन की छपाई का काम चल रहा हो- ऐसा एहसास मुझे हुआ था, क्योंकि उनके दर्शन कई दिन लगातार मुझे होते रहे थे। वहाँ से लौटने के दिन जब मैं विदा लेने प्रेमचंद जी के पास गया, तभी मुझे बड़े स्नेह से 'गोदान' की एक प्रति भेंट में दी थी, मेरा नाम लिखकर, जिसे मैं उस यात्रा में बड़ी लाइन की ट्रेन में गया तब सारी राह पढ़ता आया और वहाँ की एक धर्मशाला में रात भर जगकर उसे समाप्त करके ही सोया। यों तो प्रायः उनके उपन्यास मैं पढ़ चुका था, पर 'गोदान' में मुझे जो रस मिला था, वह अन्यत्र नहीं मिल सका था। खेद है कि वह भेंट की चीज मैं सुरक्षित न रख सका, जाने कौन चतुर यार ने उसे टपा दिया था।'

अनूपलाल मंडल की लोकप्रियता इस कारण भी रही कि उन्होंने खुद 'युगांतर प्रेस' भागलपुर में खोला। लक्ष्मी नारायण सुधांशु का कहानी-संग्रह इसी प्रेस से छपा। इस प्रकाशन से उन्होंने कई लेखकों की पुस्तकें छापीं। पाठकीयता के प्रति उनके एप्रोच का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि गाँव-गाँव बैलगाड़ी से अपनी किताबें पहुँचाते। आज भी पूर्णियाँ जिले का गाँव-गाँव इस लेखक को जानता है, लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण सच है कि आज की तारीख में उनकी ज्यादातर कृतियाँ नष्ट हो गईं। अनूपलाल मंडल का जन्म 1896 को पूर्णिया जिले के समेली गाँव में हुआ। वहीं से उनकी शिक्षा-दीक्षा पूरी हुई। लोअर प्राइमरी स्कूल के शिक्षक के रूप में उन्होंने आजीविका के लिए नौकरी की। 1928 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'साहित्य रत्न' की परीक्षा पास की और हाईस्कूल में प्राध्यापन करने लगे। कुछ दिन राजस्थान में अगरचंद भैरोदान सेठिया महाविद्यालय में प्राध्यापन किया। कुछ वर्ष यायावरी की और 1951 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद में प्रकाशन अधिकारी की सरकारी नौकरी की। अनूपलाल मंडल की पारिवारिक पृष्ठभूमि सामान्य निम्न मध्यवर्गीय थी। पिता लब्बो मंडल किसानी करते थे। उनकी अपनी बैलगाड़ी थी। अनाज ढुलाईव यात्रा का बिहार के गाँवों में तब यही एक आम साधन हुआ करती थी। उनकी आय का यह एक निश्चित स्रोत थी। बचपन में ही पिता का साया अनूप के सर से उठ गया। इनकी दो-दो पत्नियाँ अकाल काल कवलित हुईं, लेकिन वह इन प्रतिकूलताओं में भी निरंतर साहित्य सृजन करते रहे। उन्होंने अपने गाँव में सामाजिक सक्रियता के मोर्चे पर हमेशा सामाजिक कामों को बढ़ावा देने में अपनी सक्रियता दिखलायी। जीवन के अंतिम वर्षों में गाँव में स्कूल और अस्पताल स्थापित करवाने में उनकी मुख्य भूमिका रही। इन्हीं दिनों में अनूप पर महर्षि अरविंद और रमण का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने पांडिचेरी आश्रम में कुछ दिन का प्रवास किया जहाँ उन्हें आध्यात्मिक सुख मिला। इसी प्रवास के बाद उन्होंने इन दोनों शख्सियतों की जीवनी लिखी।

21 दिसम्बर, 1982 को उन्होंने अपने गाँव समेली में अंतिम साँस ली। लेकिन न तो हिन्दी साहित्यिक समाज और न ही बिहार के किसी अखबार ने इस खबर की कोई नोटिस ली। इससे बड़ी बिडंबना क्या होगी कि अभी तक उनकी आत्मकथा नहीं छपी।

अनूपलाल मंडल की प्रकाशित कृतियाँ :

उपन्यास साहित्य

1. निर्वासिता
2. समाज की वेदी पर
3. साकी
4. रूपरेखा
5. सविता
6. ज्वाला
7. ज्योतिर्मयी
8. मीमांसा
9. वे अभागे
10. दस बीघा जमीन
11. बुझने न पाये
12. आवारों की दुनिया
13. दर्द की तस्वीरें
14. रक्त और रंग
15. अभिमान का पथ
16. केंद्र और परिधि
17. तूफान और तिनके
18. उत्तर पुरुष

जीवनी

1. रघुवंश प्रसाद सिंह-व्यक्तित्व और कृतित्व
2. मुसोलिनी का बचपन
3. श्री अरविंद
4. महर्षि रमण

अनुवाद

1. गरीबी के दिन नूट हामसन की 'हंगर' का अनुवाद
2. शेष पांडुलिपि बुद्धदेव बसु के बाँग्ला उपन्यास का इसी नाम से अनुवाद
3. नीति विज्ञान बाँग्ला लेखक वीरचंद्र सिंह की किताब का अनुवाद

बाल साहित्य

1. उपदेश की कहानियाँ चार खंड
2. उपनिषद् की कहानियाँ दो खंड
3. बहादूर टेटन कहानी
4. पंचामृत; पाँच एकांकियों का संकलनद्ध
5. पवगुच्छ
6. गद्य मानस संकलन
7. काव्यालंकार-प्रवेशिका

संपादन

1. कैवर्त कौमुदी; जातीय पत्रिका
2. रहिमन सुधा; संकलन संपादन

आत्मकथा

मंजिल और कितनी दूर 'अप्रकाशित'

हिन्दी साहित्य का एक सबाल्टर्न इतिहास

अमलसिंह 'भिक्षुक'

यह सुखद संयोग है कि हिन्दी साहित्य का पहला सबाल्टर्न इतिहास बाजार में उपलब्ध हो गया है। सबाल्टर्न इतिहास में उन रचनाकारों को प्रमुखता से दर्ज करते हुए मुख्य धारा में लाने का प्रयास होता है, जिनका लेखन महत्त्वपूर्ण है, पर उन्हें जान-बूझकर माइनस कर दिया गया है, और जो इतिहास में दर्ज हैं, पर उनके लेखन को गुणवत्ता करे कम करके आँका गया है। इसमें कुछ ऐसे लेखकों का जोरदार प्रतिवाद भी होता है, जिनका लेखन कम या गैर महत्त्वपूर्ण है, पर उनको इतिहास में अधिक स्पेस मिला है। वही क्यों, कुछ ऐसे प्रान्त, जिन्हें हिन्दी साहित्य के गढ़ माने गए हैं, जहाँ से साहित्य पर वर्चस्व करने के लिए कई हथकंडे अपनाए गए हैं, उन्हें भी पुनर्मूल्यांकित करते हुए पर्दाफाश किया जाता है। इसी तरह की कई बातें हिन्दी साहित्य के सबाल्टर्न इतिहास में शामिल की जाती हैं।

असल में, हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अभी तक कुछ प्रमादवश, कुछ पक्षपातपूर्ण, कुछ सूचना के अभाव में अथवा अन्य कई कारणों से इतिहास को अधूरा लिखा है। कुछ तो जाति, प्रान्त और नामोल्लेख के मामले में टिकड़मी हथकंडे अपनाए हैं। क्या, इनमें साहित्यिक ईमानदारी का अभाव नहीं है? वैसे तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में जान-पहचान, कुल-गोत्र और क्षेत्रवाद—बहुत पहले से चला आ रहा है। हमारे यहाँ बिना पढ़े भी इतिहास-लेखन की परम्परा रही है। इतिहास में, जो तिथियों के विचलन हैं, उनके कई कारण हैं। हिन्दी इतिहास-लेखन के लिए इतिहास कम ही लिखा गया है। किसी ने 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका लिखी, तो किसी ने शोध-प्रबन्ध लिखकर डॉक्ट्रेट ऑफ फिलॉसफी की उपाधि प्राप्त की, और किसी ने स्वतन्त्र लेखों को ही नहीं, अपने पाँच व्याख्यानों को ही छपवा दिया है। यही क्यों, कुछ तो अपने को उद्धृत करने के लिए भी इतिहास लिखा, और उसका समर्पण निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया है।

भाषाशास्त्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह समाजशास्त्रीय समीक्षक हैं। उनकी आलोचना

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

दृष्टि तत्वान्वेषी और वैज्ञानिक है। इस दृष्टि से लिखी गई उनकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास (गौतम बुक सेंटर नयी दिल्ली, 2009) एक तथ्यपरक-विचारोत्तेजक ऐतिहासिक कृति है, जिसमें सिद्ध साहित्य से सन्त-साहित्य तक कुल दस अध्याय हैं—'ऋग्वैदिक भारत और संस्कृत : मिथक एवं यथार्थ', 'हिन्दी साहित्य के नामचीन इतिहास ग्रन्थ एवं इतिहासकार', 'हिन्दी भाषा का आरम्भ', 'सिद्ध साहित्य', 'नाथ साहित्य', 'जैन और जैनेतर साहित्य', वीरगाथा काल का मिथ', 'आदिकाल पर पुनर्विचार', 'मध्ययुग का आरम्भ और भक्ति आन्दोलन' और 'सन्त काव्यधारा'। इन अध्यायों में वर्षों से जकड़ी हुई ब्राह्मणवादी, सामन्तवादी, सम्पद्रायवादी और प्रतिवादी इतिहासकारों को गलत मान्यताओं-स्थापनाओं को उभारकर तथ्यों के सत्यापन द्वारा प्रतिवाद करते हुए तोड़ा गया है। यहाँ, केवल तोड़ा ही नहीं गया है, बल्कि बहुत से चौंकाने वाले मान्यताओं-स्थापनाओं को तथ्यों-साक्ष्यों के आधार पर जोड़ा भी गया है।

पुस्तक का आरम्भ 'ऋग्वैदिक भारत और संस्कृत' के कपोल-कल्पित मिथक की अवधारणा का पर्दाफाश करते हुए नवीन स्थापना द्वारा हुआ है जिसमें लेखक की चेतावनी है कि भाषा के जानकार अब वैदिक और लौकिक संस्कृत के बाद पालि का इतिहास लिखना बन्द करें और ऋग्वैदिक इंडिया' की कपोल-कल्पित अवधारणा के साथ वैदिक भाषा को जोड़कर उसे पालि के पहले सिद्ध करने से बाज आयें। उनका दावा है कि 'हिन्दी भाषा का आरंभ' बिहार के मगही क्षेत्र से हुआ हैं। यदि ब्रज भाषा या अवधी मध्यकालीन हिन्दी है तब जरूर 'प्राचीन मगही' भी 'पुरानी हिन्दी' है। 'सिद्धों की भाषा को 'प्राचीन मगही' तथा 'पुरानी हिन्दी' कहा गया है। यह भाषा नालन्दा और विक्रमशिला इलाके की रही है। वास्तव में, हिन्दी की प्रकृति और संरचना समय-समय पर बदलती रही है।

कई इतिहासकारों ने सिद्धों पर व्यभिचार करने फैलाने का आरोप लगाते हुए उनकी कविताओं को अश्लील घोषित किया है। सिद्धों के बारे में यह कहना कि वे कहा करते थे कि जितनी अधिक नीच जाति की स्त्री होगी, सिद्धि उतनी ही जल्दी मिलेगी, सही नहीं है। पर, वास्तविकता यह है कि प्रायः सिद्ध निम्न जाति के हुए हैं, इसीलिए उनकी उपासना में कपाली, डोमिनी और रजकी जैसी निम्नवर्ग की नायिकाएँ साधना के आलम्बन के रूप में गृहीत होती थीं, जो लेखक की दृष्टि में प्रतीकात्मक थीं। कबीर के राम, कबीर के साथ कई बार होली खेलते हैं। कई बार नायिका के चुनर में दाग लगता है। कबीर की नायिकाएँ नैहर में ही रसकेलि किया करती हैं। तब क्या, सन्त-काव्य अश्लील है? अश्लील तो वे हैं, जिन्हें ऊँची जात के बलबूते साहित्य में 'महाकवि' का दर्जा मिला है। ब्राह्मणपुत्र लीलाशुक ने चिन्तामणि वेश्या को, चंडीदास ने रजक कन्या तारा को और विद्यापति ने राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा को गुरु बनाकर रसास्वादन किया था। विद्यापति तो कुचों की उपमा देने में बेजोड़ रहे हैं। उनकी कविता में नखक्षत, दंतक्षत और न जाने कितनी कामोत्पादक मुद्राएँ सचित्र नजर आती है। नाथों ने मनुष्य के भीतर कुंडली मारे सर्प रूपी जिस कामासक्ति का दमन करने की बात की है, वह ब्रजबोली साहित्य में फुफकार मारकर हाड़-मांस की जीती-जागती एवं छुम-छनन करती परकीया प्रेयसी के रूप में खड़ी हो गयी है। पूर्वोत्तर प्रान्तों में ब्रजबोली के राधा-कृष्ण की रासलीला से सम्बन्धित जितने भी पद रचे गए हैं, क्या वे घोर अश्लील नहीं हैं, जिसे 'उज्ज्वल रस' की चादर से ढ़क दिया गया है? लेखक का प्रामाणिक तर्क इतिहासकारों की बोलती बन्द कर देता है। सिद्धों की रचनाएँ दलितमूलक और ब्राह्मण विरोधी रही है। सिद्ध-नाथ साहित्य को लेखक ने समाज के हाशिए पर खड़े रचनाकारों की रचनाएँ माना है, जिसमें तत्कालीन समाज का स्पन्दन भी है। पर, पता नहीं क्यों, आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि सिद्ध और योगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबन्ध नहीं है। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती। जबकि सूरदास, तुलसीदास और जायती भी किसी-न-किसी साम्प्रदाय या धर्म से जुड़े हुए कवि हैं। इनमें जायसी तो सिर्फ इस्तेमाल की चीज हैं जिससे यह साबित किया जा सके कि वे धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक हैं।

पुस्तक की स्वीकारोक्ति है कि जाति-चोरी की सर्वाधिक मामले सिद्ध और सन्त साहित्य में मिलते हैं। भले ही इन दोनों के प्रविधिशास्त्र भिन्न हैं। सिद्ध साहित्य में जाति-चोरी का औजार निम्नवर्ग की महिलाएँ और उनके साथ सहवास है जब कि साहित्य में उच्च वर्ग की महिलाएं तथा उनके अवैध गर्भधारण को औजार के रूप में इस्तेमाल किया गया है। सन्त-काव्य में जाति-विवाद सिर्फ दलितों-पिछड़ों के लिए आरक्षित है, वरना सवर्ण सन्तों की जाति क्या, गाँव-परगना से लेकर तहसील तक स्पष्ट हैं। जैनियों के बहाने बिना बाल वाले स्त्री-नितंब की मुक्ति को लेकर स्त्री-विमर्श पर धारदार टिप्पणी करने वाले सरहपा (आठवीं शतीं) आदिकाल के प्रमुख कवि हैं। उनको ब्राह्मण बतलाया गया है, जबकि वे सर (शर) बनाने वाली जति के थे। ऐसे ही 'डोम्बिपा' को क्षत्रिय बताया गया है जबकि वे डोम थे। श्री राहुल सांकृत्यायन की सूची में शबरपा को 'क्षत्रिय' बताया गया है जब वे 'शबरी' की तरह अनार्यकुल के भील थे। समीक्षक के तर्क में दम है कि जब मीनपा मछुआरा, तंतिपा तँतवा, चमारिपा चमार, धोम्मिपा धोबी और कमरिपा लोहार थे, तब कैसे और क्यों सबरपा, सरहपा और डोम्बिमा इसके अपवाद हुए? लुइपा मछली पकड़ते, तिलोपा तिलों से तेल निकालते और तंतिपा रूई धुनते थे। मीननाथ के पुत्र मछिंदरनाथ कामरूप के मछवाहे थे। नाथ योगियों में सबसे अधिक प्रभावशाली गोरखनाथ ब्राह्मण नहीं, ग्वाल थे। आचार्य शुक्ल ने इनकी जाति को दबाने के लिए प्रछन्न रूप से कई तर्क जुटाए हैं।

ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने लिखा है कि रैदास पूर्वजन्म में ब्राह्मण थे, और वे मांस खाने के शापवश चमार जाति में पैदा हुए थे। मेरे विचार से, यदि इनकी कठदलेल सही है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी निधन के बाद चमार जाति में जन्मे होंगे। ये दोनों कौलिक थे और पंचमकार का सेवन किया करते थे।

8वीं शताब्दी का समय हिन्दी साहित्य के लिए आदिकाल, भारतीय इतिहास के लिए मध्यकाल तथा भारतीय आर्य भाषाओं के लिए आधुनिक काल है, जिसे 'संक्रान्ति काल' या 'पुरानी हिन्दी का काल' भी कहा जाता है। पर कई, इतिहासकारों की नज़र में हिन्दी साहित्य का आदिकाल 10वीं, 11वीं और 12वीं शताब्दी से आरम्भ होता है, तब भी हिन्दी साहित्य की तथाकथित पृष्ठभूमि (सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य) कम-से-कम 'दो सौ वर्षों को लेकर आदिकाल में प्रवेश कर जाती है। वास्तविकता यह है कि ये 'साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी' इतिहासकार 'सेंधमारी' करके अपने-अपने साहित्य की पूँजी बढ़ाते हैं। पुस्तक में सवाल है कि जैन और जैनेत्तर साहित्य के कई रचनाकार, जिनकी गणना हिन्दी साहित्य में की जाती है, क्यों अपभ्रंश साहित्य में शमिल कर लिये जाते हैं? जबकि इनकी कई रचनाएँ 'पुरानी हिन्दी' में है। हिन्दी के प्रथम कवि और रचना को लेकर जो भारी मारामारी जातिगत एवं क्षेत्रगत हुई, उसका विवेचन और सन्त कवियों के प्रान्तवार-विवरण भी पुस्तक में हैं। जातिवाद एवं प्रान्तवाद ने इतिहासकारों को अंधा बना दिया है। आलोचक की मान्यता में, हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रान्तवाद या जातीय ढाँचे में गढ़ना एक जीवंत काठ के शिकंजे में कसना है। ऐसा इतिहास एक तरफ उभरा हुआ, दूसरी तरफ पिचका हुआ और बीच-बीच में उखड़ा हुआ आईना है, जो असली तस्वीर को अत्यत विरूप बनाकर दिखाता है। वीरगाथाएँ उभरी हुई हैं, सिद्ध-नाथ साहित्य पिचका हुआ है और जैनियों की रचनाएँ बीच-बीच में उखड़ी हुई हैं। यह हिन्दी साहित्य के आदिकाल की नकली तस्वीर है, जिसे दुरुस्त करना जरूरी है। (पृ. 40-41)

डॉ. नामवर सिंह ने वीरगाथा काल पर कहाँ टिप्पणी किया है कि कवि की दृष्टि में युद्ध से महत्त्वपूर्ण रूपवती स्त्री है, युद्ध के लिए स्त्री नहीं, बल्कि स्त्री के लिए युद्ध है। पर, इनसे दो कदम आगे बढ़कर राजेन्द्रप्रसाद सिंह का मंतव्य है कि वीरगाथा काल का इतिहास सुन्दरियों की छीना-झपटी में खलनायक नहीं, अपितु नायक की भूमिका, भाट-चारणों द्वारा ऐसे नायकों का स्तुतिगान, स्तुतिगान का संदिग्ध पाठ और इस संदिग्ध पाठ से भी आम जनता से गायब हो जाने का अद्‌भुत वृत्तांत है। जहाँ तलवार स्त्री-अपहरण का साधन है, जबकि इसका इस्तेमाल समाज में फैले अन्याय के खिलाफ होना चाहिए, यह तलवार का वैसा ही दुरुपयोग है, जैसे 'मृच्छकटिकम्' का जनेऊधारी आदमी जनेऊ का इस्तेमाल सेंध की नाप लेने के लिए करता है। आदिकाल का तथाकथित धार्मिक साहित्य, जो वीरगाथाओं से अधिक प्रामाणिक है, मात्रा में भी अधिक है और जनमानस के करीब भी है, वह आखिर क्यों और कैसे इतिहास की मुख्यधारा में नहीं आ पाता है इसकी जाँच-पड़ताल आवश्यक है।' वैसे तो वीरगाथा काल की सर्वोत्कृष्ट कृति आल्हा खंड (परमाल रासो) है। वीर रस का इतना जबरदस्त परिपाक वीरगाथाकालीन किसी भी अन्य ग्रन्थ में नहीं है, जबकि इसका नाम 'वीरगाथा काल' है। वास्तव में, आल्हा काव्य जनभाषा में जनता के लिए और जनता द्वारा लिखा गया अद्‌भुत काव्यग्रन्थ है। पर, ऐसे लोकप्रिय और उम्दा किस्म के काव्यग्रन्थ को बुद्धिजीवी लोग हाशिए पर डालकर 'पृथ्वीराज रासो' से पाठ्यक्रम का आरम्भ करते हैं, जिसका नाम और कविताएँ भारत की आम जनता जानती तक नहीं है। साम्राज्य विस्तार, धनलिप्सा या सुन्दरियों की चाहत में युद्ध को आमंत्रित करने वाले कलहप्रिय राजाओं की वृत्तियाँ जनसाधारण की हैं अथवा सामन्तवादी उच्चवर्गीय व्यक्ति की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब है? दरअसल, शुक्ल जी को पता था कि वीरगाथा काल की सामग्री संदिग्ध है। ऐसा उन्होंने लिखा है। किन्तु, प्रान्तवाद का संस्कार कितना बलशाली होता है कि आखिर सब कुछ जानते हुए शुक्ल जी जैसे धीर-गम्भीर इतिहासकार से 'वीरगाथाकाल' का कपोल-कल्पित मिथ रचवा डाला! यहाँ प्रश्न है कि ब्राह्मणवादी इतिहासों' में 'वीरगाथाकाल' को क्यों आदिकाल की मुख्यधारा मानी जाती है, जबकि वीरगाथाकालीन प्रायः रचनाएँ जाली, प्रक्षिप्त और परवर्ती हैं।

स्मरणीय तथ्य यह है कि सन्त काव्यधारा में सवर्ण सन्तों की संख्या अवर्णों की अपेक्षा कम है, पर पंथ-निर्माण में अपने संख्या की हिसाब से अवर्णों की अपेक्षा आगे रहे हैं। पथ-निर्माण के बेतहाश दौड़ में सन्तों की कविताएँ कमजोर होती गई। यहाँ तक कि कई सन्त पथ भ्रष्ट हो गए। उनकी साधनाओं में पौराणिक एवं तांत्रिक पद्धतियों का समावेश होने लगा, जिधर से मोड़ने के लिए पहले के सन्तों ने अथक परिश्रम किया था। कालक्रम में निर्गुणवादियों की काव्यधारा सगुणवादियों के कूल कछारों को तोड़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें विलीन होने लगी। कतिपय सगुण-लम्पट सन्त कवि और कवयित्रियों से कबीर और रैदास जैसे जुझारू ठेठ सन्त काव्य परम्परा का अन्त हुआ, जिनकी लपक सगुणभक्ति की ओर थी।

यह निर्विवाद है कि पौराणिक आख्यानों का नवीनीकरण ही भक्ति-साहित्य में हुआ है। वैष्णव भक्ति दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने वाले सभी आचार्य अद्वैतवाद को केन्द्र में रखकर विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत द्वारा चक्रव्यूह रचते हैं और कुल मिलाकर शंकर के कद को ऊँचा करते हैं। यहाँ आलोचक को आश्चर्य होता है कि कई प्रकार से विष्णु और जीव के रूप को व्याख्या करने वाले सभी आचार्यों के बीच ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठता को लेकर कोई विवाद नहीं हैं। मतलब यह कि ईश्वर के नाम पर सभी एक थे। पर, भक्ति के लिए जातिबन्धन की ढील एक प्रकार से श्रद्धालु वर्ग की आबादी को विस्तार देने की औजार थी, जैसा कि हम

E/Nai kitab/Samay se samvad/Hindi sahity itihas.p65
IInd proof 09.01.16

पूर्व-मध्यकालीन भारत के सामन्तवाद में देखते हैं, जब कर-संग्रह के लोभ में शूद्रों को भी किसान का दर्जा दे दिया जाता है। अतएव, भक्ति आन्दोलन ब्राह्मण-सामन्तवाद से कम नहीं है।

अन्त में, यह माना कि समाज पर काबिज, लोग इतिहास से छेड़-छाड़ किया करते हैं। वर्षो बाद जनता इतिहास की सही दिशा और दशा तय करती है। कबीर एक लम्बे समय से इतिहास में दफन थे। पर, आज वे तुलसीदास से भी बड़े कवि है। 'क्या वास्तव में इतिहासकर सन्त-साहित्य के बलबूते भक्ति काल को 'स्वर्गयुग' कहते हैं या तुलसी-साहित्य की ताकत से कहते हैं, जिसमें आम जनता के शोषण के कई हथकंडे प्रस्तुत किये गये हैं? वह दिन दूर नहीं, जब ऐसे और भी रचनाकार इतिहास के पन्नों पर समय के साथ-साथ आयेंगे, और जो कई हथकंडों के सहारे इतिहास पुरुष बन बैठे हैं, वे इतिहास से बाहर होंगे।' राजेन्द्र बाबू का यह वक्तव्य आगे की योजना और सम्भावना पर बल देता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे दूसरे समीक्षकों की भाँति क्लिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करते। उनके पास कहने को बहुत बाते हैं, इसीलिए शब्दजाल नहीं बुनते, और आसान शब्दों में धारा प्रवाह अपनी बातें रखते हैं। उनके पास गहरे अध्ययन के कारण तार्किक दूरदृष्टि है। शायद इसीलिए कहीं भी पक्षपात करते दृष्टिगत नहीं होते, बड़ी मेहनत से तथ्यों की छान-फटक करते हैं और जिसके पास जो कुछ है, उसे सामने लाते हैं। उसमें मानवता विरोधी जो प्रतिगामी तत्त्व मिलते हैं, उसका जोरदार प्रतिवाद भी करते हैं। पुस्तक में, अच्छे को बुरे से अलग बिन-चुनकर स्वस्थ्य वातावरण तैयार करने का प्रयास हुआ है, जो सराहनीय है।

लेखकों का परिचय

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' : (जन्म : 13 नवंबर 1917-11 सितंबर 1964) हिन्दी साहित्य की स्वतंत्र्योत्तर प्रगतिशील काव्यधारा के शीर्ष व्यक्तित्व थे। हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक चर्चा के केन्द्र में रहने वाले मुक्तिबोध कहानीकार भी थे और समीक्षक भी। उन्हें प्रगतिशील कविता और नयी कविता के बीच का एक सेतु भी माना जाता है।

सुधीश पचौरी : (जन्म 1948) हिन्दी साहित्य के मुर्द्धन्य आलोचक एवं मीडिया विश्लेषक हैं। इनकी आलोचना पुस्तकें नयी कविता का वैचारिक आधार, कविता का अन्त, उत्तर आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद, आधुनिक परिदृश्य, उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, साम्राज्यवाद और संस्कृति, नामवर के विमर्श हैं। वे हिन्दी में विखंडनवाद के प्रस्तावक के रूप में भी ख्यात हैं।
ईमेल : spachauri17@gmail.com

कमलेश वर्मा : (जन्म : 24 जून, 1974) राजकीय महिला विद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। वे अपनी प्रखर आलोचना पद्धति के कारण हाल के वर्षों में चर्चित हैं। 'काव्य भाषा और नागार्जुन की कविता' तथा 'जाति के प्रश्न पर कबीर' उनकी चर्चित पुस्तकें हैं।
ईमेल : kamleshvermajnu@gmail.com

राजेंद्र प्रसाद सिंह : (जन्म : 5 नवंबर, 1965, बिहार) ख्यात भाषावैज्ञानिक। जैन कॉलेज, सासाराम में प्राध्यापक। वे हिन्दी में ओबीसी साहित्य के प्रथम प्रस्तााावक हैं। ईमेल : rpsingh.ssm65@yahoo.in

गंगा सहाय मीणा : (जन्म : 10 जुलाई, 1982, राजस्थान) जवाहरलाल नेहरू विश्वरविद्यालय, नई दिल्ली में प्राध्यापक हिन्दी साहित्य एवं आलोचना के क्षेत्र में कार्यरत हैं। ये भारतीय दलितों और आदिवासियों की समस्याओं पर लेखन के लिए जाने जाते हैं। ईमेल : gsmeena.jnu@gmail.com

विशेष राय : (जन्म : 18 अगस्त, 1987, बिजनौर, उत्तर प्रदेश) जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से दलित साहित्य पर शोध कर रहे हैं। ईमेल :

visheshrai074@gmail.com

सुनीता गुप्ता : हिन्दी आलोचक सुनीता गुप्ता भीमराव आम्बेडकर यूनिवर्सिटी, बिहार में हिन्दी साहित्य की एसोसिएट प्रोफेसर हैं।
ईमेल :sunitag67@yahoo.com

प्रेमपाल : (जन्म : 1 नवंबर, 1986, अलीगढ, उत्तर प्रदेश) जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से 'हिन्दी साहित्य के स्त्री लेखन' शोध कर रहे हैं। ईमेल : premjnudu@gmail.com

रामनरेश राम : अलोचक रामनरेश राम ने दिल्ली विश्वलविद्यालय से पीएचडी की है। उनकी 'दलित स्त्रीवाद की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित है। ईमेल : naynishnaresh@gmail.com

कंवल भारती : (जन्म : फरवरी, 1953, रामपुर, उत्तर प्रदेश) प्रगतिशील आम्बेडकरवादी-समाजवादी चिन्तक कंवल भारती आज के सर्वाधिक चर्चित व सक्रिय लेखकों में से एक हैं। 'दलित साहित्य की अवधारणा' 'स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर' संचयिता' आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। ईमेल : kbharti53@gmail.com

अरूण नारायण : (जन्म : 11 जनवरी, 1979, जहानाबाद) युवा आलोचक, लम्बे समय तक साहित्यिक पत्रकारिता की है। उनकी दो पुस्तकें 'दास्ताने जिंदगी (बिहार के पत्रकारों का जीवन कर्म)' तथा 'सामांतर स्वर (बिहार की लेखिकाओं की प्रतिनिधि कहानियां)' प्रकाशित हैं। वे कई साहित्यिक पत्रिकाओं के विशेष अंकों के अतिथि संपादक भी रहे हैं।
ईमेल : arunnarayanonly@gmail.com

अमल सिंह 'भिक्षुक' : ईश्वणरदत्त भागवत प्रसाद सिंह महाविद्यालय, गढ़नोखा, रोहतास में हिन्दी साहित्य के प्राध्यापक हैं।

❑❑❑